योग सिद्धान्तों एवं शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

वर्ष : 39 – अंक : 10
जनवरी, 2007

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सँवाई-283202 (आगरा) उ.प्र.

अमृत कण

कुरंगमातंगपतंगमीनमृगा हता: पंचभिरेव पंच।
एक: प्रमादी स कथं न हन्यते स: सेवते पंचभिरेव पंच।।

वीणा के शब्द से मृग, स्पर्श दोष से हस्ती, रूप से पतंग, रस से मत्स्य, गन्ध से लोलुप भृंग मृत्यु के मुख में चले जाते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति और समाज तथा राष्ट्र का पतन होता है। विशेषकर बालकों के कोमल स्वच्छ अन्तःकरण पर शिक्षा के द्वारा जो छाप पड़ती है वह तो आमरण अमिट हो जाती है।

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहु मानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति।।

(श्रीमद् भागवत 3/29/34)

इन सब भूतप्राणियों में सर्वेश्वर भगवान ने ही अपने अंशभूत जीव के रूप में प्रवेश किया है – यों जानकर सब प्राणियों को अत्यन्त आदर देते हुए सबको मन–ही–मन प्रणाम करना चाहिये।

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
ते सेव्यास्त: समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी।।

(महाभारत वन. 1/27)

जिनके विद्या, कुल और कर्म – ये तीनों शुद्ध हों, उन साधु पुरुषों की सेवा में रहें। उनके साथ उठना–बैठना शास्त्रों के स्वाध्याय से भी श्रेष्ठ है।

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशव: स्त्रिय:।
न दुह्यन्ति मन:प्रीतिं पुंस: कामहतस्य ते।।

(श्रीमद्भागवत 9/19/13)

अर्थात पृथ्वी में जितने भी धन–धान्य, पशु और स्त्रियां आदि वस्तुएँ हैं, कोई भी उस पुरुष के मन को तृप्त नहीं कर सकता, जिसका मन कामवासना से हरण हो चुका हो।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक–पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 39
अंक 10

जनवरी
2007

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्य:।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विषदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोग:।।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्य:
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान:।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति व: पाराय तमस: परस्तात्।।

(मुण्डकोपनिषद् 2/2/6)

भावार्थ

रथ की नाभि में जुड़े हुए अरों की भाँति जिसमें समस्त देहव्यापिनी नाड़ियां एकत्र स्थित हैं, उसी हृदय में वह बहुत प्रकार से उत्पन्न होने वाला यह अन्तर्यामी परमेश्वर मध्य भाग में रहता है। इस सर्वात्मा परमात्मा का ओम इस नाम के द्वारा ही ध्यान करो। अज्ञानमय अंधकार से अतीत तथा भवसागर से अन्तिम तटरूप पुरुषोत्तम की प्राप्ति के लिए साधन करने में तुम लोगों का कल्याण हो।

SIDDHYOG
HINDI MONTHLY

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक :
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

इस अंक में ...

1. विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज — 3
2. सम्पादकीय — 11
3. पशु एवं मनुष्य – वासुदेवशरण अग्रवाल — 12
4. आध्यात्मसिद्धि का गणितीय सूत्र (3) – डॉ. ऋषिराम शर्मा — 15
5. भाव-प्रसून – श्रीमती सरिता भारद्वाज — 22
6. योगदर्शन में कर्मवाद – डॉ. उमादेवी जोशी — 23
7. सद्गुरु भक्ति और ज्ञानसागर (कविता) – निर्मला चन्देल — 27
8. योग साधना शिविर कानपुर – केशवदेव उपाध्याय — 28
9. अचल बुद्धि का ठहराव ही योग है – वेदव्रत द्विवेदी — 30
10. जीवन में स्वरोदय की महत्ता – आर. पी. अग्निहोत्री — 33
11. संस्कृति की दृष्टि से गौ का महत्व – देवराहा बाबा — 37
12. कल्याण का मूल स्रोत – वेदव्रत द्विवेदी — 37
13. माया से कैसे पार हों? — 40

एक प्रति	: रु.	10.00
वार्षिक शुल्क	: रु.	110.00
द्विवार्षिक	: रु.	200.00
आजीवन	: रु.	825.00

• <u>हमारा विशेष लेख</u>

चित्तवृत्तियाँ एवं उनके लक्षण

योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

भगवान पतंजलिदेव ने '**योगश्चित्त वृत्ति निरोध**' कह करके योग की परिभाषा बतलाई है। प्रथम सूत्र में 'योगश्चित्त वृत्ति' कहकर निरोध की परिभाषा लिखी। इस सूत्र में सर्व चित्तवृत्ति निरोध: ऐसा नहीं कहा गया। इसलिए श्री पतंजलि देव के मन्तव्य में सम्प्रज्ञात समाधि भी योग की परिभाषा के अन्तर्गत है। यदि श्री पतंजलि देव योगस्सर्व चित्त वृत्ति निरोध' ऐसा कहते तो ही लागू होता था, क्योंकि चित्त–वृत्ति प्रवाह असम्प्रज्ञात तक थोड़ा बहुत चलता ही है। जहाँ पर साधक को असम्प्रज्ञात का उदय होता है वहाँ पर चित्त वृत्तियों का गुणाधिकार भी खत्म होने लगता है। वहीं से असम्प्रज्ञात योग का प्रारम्भ होता है, और गुणाधिकार समाप्त होता है। क्योंकि इस सूत्र के अन्दर श्री पतंजलिदेव जी महाराज ने सर्व शब्द को ग्रहण नहीं किया। इसलिए यह लक्षण सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात योग की दोनों समाधियों पर लागू होता है। प्रख्या–प्रवृत्ति एवं स्थिति शील होने से चित्त त्रिगुणात्मक है। जिस समय हमारा यह चित्त प्रख्या रूप होकर रज और तम के द्वारा आक्रमित होता है, उस समय वैभव विविध ऐश्वर्यों को अपना लक्ष्य बनाता है एवं जिस समय प्रख्या रूप चित्त सत्व तम से दबाया जाता है, उस समय वही चित्त तमोगुण से घिरा हुआ होने के कारण अधर्म अज्ञान एवं अनैश्वर्यता अर्थात् दारिद्रय को प्राप्त होता है और जिस समय यह चित्त रजो मात्रयान्विविद्ध होता है तब मोहावरण के नष्ट हो जाने पर सर्वथा प्रकाशमान–धर्म–वैराग्य एवं ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। इसके बाद रजोगुण की जो अंश मात्रा शेष थी वह भी योगी के अभ्यास–बल से समाप्त हो जाती है। और चित्त स्वरूप प्रतिष्ठ हो जाता है। और इसको प्रकृति पुरुष का विवेचनात्मक ज्ञान परिपक्व होने पर धर्म विवेक समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है। वही योगियों का पर प्रख्यान है। वैसे चित्त शक्ति अपरिणामिनी, अप्रतिसंक्रमा, दर्शित विषया, शुद्धा एवं अनन्ता सत्वगुणात्मिका शास्त्रों में कही गयी है। इस कारण से पुरुष से विपरीत होने के कारण यह जड़ कही गयी है। और प्रकृति पुरुष का भिन्न–भिन्न ज्ञान विवेक ख्याति कहलाता है। अत: उसमें भी विरक्त हुआ चित्त उस ख्याति को भी रोक देता है। वहाँ पर चित्त की स्थिति संस्कार मात्र से ही है। इस स्थिति को प्राप्त होने वाला योगी जीवन मुक्त हो जाता है, इसी का नाम **निर्बीज समाधि** है। यहाँ पर यह प्रश्न किया गया है :–

तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धि बोधात्मा पुरुष: किं स्वभाव इति।

अर्थात् इस अवस्था में विषय का अभाव हो जाने से बुद्धि बोधात्मा पुरुष कैसे स्वभाव वाला होता है ? इसके उत्तर में भगवान पतंजलि देव ने कहा –

तदा दृष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्।

बोध स्वात्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है। योगी जिस समय निर्बीज समाधि में समाधिस्थ होता है, उस समय वह अपने नित्य शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है। किन्तु ज्यों ही समाधि से उठता है तो यह नियम है कि वह वृत्ति सारूप्य को प्राप्त हो जाता है। भगवान पतंजलिदेव कहते है–

वृत्ति सारूप्यमित रत्र, व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तायस्यस्तदविशिष्ट वृत्तिः पुरुषः तथा च सूत्रम् एकमेव दर्शन ख्यातिरेव दर्शनमिति।

अर्थात व्युत्थान के समय जैसी चित्त वृत्ति होती है, पुरुष उनमें मिला हुआ सा ही रहता है। क्योंकि–

चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति, पुरुषस्य स्वामिनः, तस्माच्चित्त वृत्ति बोधे पुरुषस्यानादि सम्बन्धो हेतुः।।

क्योंकि अयस्कान्त मणि के समान चित्त पुरुष के लिए सन्निधिमात्रोपकारि है। और पुरुष का अपना स्वत्व है। जिस प्रकार से दर्पण में जवाकुसुम सामने करने से पुष्पाकृति भासित रहती है, प्रत्युत उसमें कोई फूल होता नहीं है। इसी प्रकार से चित्त भी पुरुष के लिए सन्निधिमात्रोपकारि है। अतः चित्त में पुरुष भासित होता रहता है, वस्तुतः होता नहीं है। इसलिए चित्त–वृत्ति बोध में पुरुष का अनादि सम्बन्ध ही कारण है। किन्तु चित्त त्रिगुणात्मक है, इसलिए उसकी वृत्तियाँ भी गुणतारम्य से अनेक रूप से प्रगट होती रहती है। और वह सभी निरोधव्या है।

योग दर्शनकार भगवान पतंजलि देव ने चित्त वृत्तियों को पाँच प्रकार से माना है। उन पाँचो प्रकारों में भी क्लिष्टा और अक्लिष्टा रूप से दो विशेष भेद है।

क्लेशहेतुकाः कर्माशय प्रचय क्षेत्री भूताः क्लिष्टाः, ख्यातिविषया गुणाधिकार विरोधिन्योऽक्लिष्टाः, क्लिष्ट, प्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः, क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तयः इत्येवं वृत्तिसंस्कार चक्रमनिशमावर्त्तते। तदेवम्भूत चित्तमवसिताधिकारात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलय वा गच्छतीति, ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टश्च पंचधा वृत्तयः।।

जो वृत्तियाँ कर्माशय प्रचय में क्षेत्री भूता है – अर्थात् जिनके कारण कर्माशय बनता रहता है, ऐसी वृत्तियाँ क्लेशो की कारणभूता क्लिष्टा कहलाती है और जो वृत्तियाँ गुणाधिकार विरोधिनी है और विवेक ख्याति की ओर बढ़ाती है, वह वृत्ति अक्लिष्टा कहलाती है। किन्तु प्रकृति का एक स्वाभाविक नियम है कि क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में अक्लिष्टा और अक्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में क्लिष्टा वृत्तियों का उदय देखने में आता है। इस प्रकार से वृत्ति संस्कार चक्र रात–दिन चलता रहता है। इस प्रकार से साधक ज्यों–ज्यों विवेकख्याति की ओर बढ़ता है त्यों–त्यों चित्त के अधिकार समाप्त होते चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में चित्त आत्म रूप से ठहरता है या प्रकृति में विलीन हो जाता है। इस प्रकार से क्लिष्टाक्लिष्ट भेद से वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्टा रूपों में बदलती रहती है।

वृत्तियों के पाँच प्रकार

प्रमाणविपर्यय विकल्प निद्रास्मृतयः।।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प निद्रा एवं स्मृति यह पाँचो प्रकार की वृत्ति अपने विभिन्न रूपों में जाकर क्लिष्टा और अक्लिष्टा रूप धारण करती रहती हैं। जैसे प्रमाण वृत्ति –

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।

व्यास भाष्य –

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य

विशेषावधारणप्रधाना वृत्ति : प्रत्यक्ष प्रमाणम्।

फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः, बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टा दुपपादयिष्याम :, अनुमेयस्य तुल्य जातीयेष्वनुवृत्तो भिन्न जातीयेभ्यो व्यावृत: संबन्धोयस्तद्विषया सामान्यावधारण प्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यथा–देशान्तरप्राप्ते गतिमचन्द्रतारकं चैत्रवद् विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः, आप्तेन दृष्टोऽनुमितोवाऽर्थ परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते शब्दात्तदर्थ विषया वृत्ति : श्रोतुरागम : यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थ : स आगम : प्लवते. मूलवक्तरितु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लव : स्यात्।

प्रत्यक्ष प्रमाण=अक्ष्णोविषयं प्रत्यक्षम्।

अर्थात् जो वस्तु आँखो का विषय हो अर्थात् आँखों देखी बात को ही प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में माना जाता है। हर वस्तु के दो रूप होते है – एक सामान्य, दूसरा विशेष। जैसे कहीं जंगल में कोई गौ चर रही है, कोई मनुष्य दूर से देखकर अनुमानपूर्वक कहता है कि यह गौ मालूम पड़ती है, किन्तु कह नहीं सकते कि गौ ही है या और कोई पशु। इस प्रकार विचारते जब मनुष्य उस पशु के नजदीक पहुँचता है कि वह और कोई पशु नहीं है प्रत्युत गौ ही है। इसलिए इन्द्रिय प्रणालिका के द्वारा सामान्य विशेषात्मक अर्थ का विशेष रूप धारण करने वाली वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण का फल ही पौरुषेय चित्तवृत्ति बोध है, क्योंकि पुरुष जो है वह बुद्धि बोधात्मा है। साधक ज्यों ही पुरुष साक्षात्कार के लिए ध्यान का अभ्यास करता है प्रभु की कृपा से उसकी अन्तर्मुखी दृष्टि हो जाती है। जिसका फल यह निकलता है कि ध्याता सत्वाविष्ट पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध को प्राप्त होता है। जब तक गुण वृत्तिबोध सम्बन्ध रहता है तब तक यही पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध है। गुण सम्बन्ध टूट जाने के बाद गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है, और आत्मा केवली भाव को प्राप्त हो जाता है। दूसरा प्रमाण अनुमान प्रमाण है, जो वृत्ति अनुमेय वस्तु के सदृश वस्तु में लगी होती है और उसके विपरीत विजातीय वस्तु से हटी हुई होती है। सामान्य विशेषात्मक अर्थो में सामान्य को धारण करने वाली वृत्ति को अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति यह जानता है कि गतिमान ही एक देश से दूसरे देश जा सकता है, जिसमें गति नहीं है वह एक ही जगह कायम रहा करता है। जैसे तारे और चन्द्रमा गति वाले है क्योंकि उनका एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना मालूम होता है। और विन्ध्याचल पर्वत अगति है क्योंकि वह एक स्थान से दूसरे स्थान नहीं जाता दिखाई देता प्रत्युत एक ही जगह कायम रहता है। एक जगह उसका कायम रहना ही अगति का द्योतक है। इसी का नाम अनुमान प्रमाण है। अनुमान प्रमाण मे यद्यपि साधक की दृष्टि सामान्य विशेषात्मक अर्थ के सामान्य रूप को ही धारण करती है। किन्तु वह सामान्य अर्थ भी विशेषार्थ का निश्चय कराता है। जैसे कोई व्यक्ति कहे कि पर्वत से धुँआ निकल रहा है, इसलिए जहाँ धुँआ होता है वहाँ आग का होना भी जरूरी है। क्योंकि **'यत्र यत्र धूम: तत्र तत्रैवाग्नि'**, इसलिए अनुमान प्रमाण भी विशेषार्थ को प्रगट करता है। साधक जिस समय ध्यानाभ्यास करना प्रारम्भ करता है उस समय आत्म साक्षात्कार के लक्षण प्रातिभ श्रावण दर्शन वेदनादि ज्यों ही प्रकट होने लगते है त्यों ही साधक अनुमान वृत्ति से भली प्रकार जान लेता है कि जहाँ पर प्रातिभ श्रावणादि लक्षण प्रकट हो जाते है वहाँ ही आत्म साक्षात्कार हो जाता है। यही अनुमान प्रमाण के द्वारा पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध का रूपक है।

आगम प्रमाण = आप्त पुरुष के द्वारा देखा हुआ या सुना हुआ अर्थ दूसरो को अपना ज्ञान

पहुँचाने के लिए वाणी के द्वारा कहा जाता है, इसी को श्रोताओं के हितार्थ आगम प्रमाण कहते हैं। जिसका वक्ता दृष्टानुमितार्थ होता है वही आगम पतन से रहित होता है और जिसका वक्ता दृष्टानुमितार्थ नहीं होता उसका वचन भी कदापि सत्य नहीं होता। इसलिए दृष्टानुमितार्थ वक्ता ही पौरुषेय वृत्ति बोध में कारण हो सकता है, अन्यथा नहीं। यही कारण है कि हमारे ऋषि मुनि लोगों की वाणियाँ आज भी सफल मालूम होती है। और आजकल के अदृष्टानुमितार्थक अश्रद्धेय वक्ताओं की वाणी कभी भी यथार्थ देखने में नहीं आती। यही कारण है कि आज के युग में भविष्य वक्ताओं की वाणियाँ अयथार्थ होती है। इस विषय में मुझे एक बात याद आती। मैं एक बार एक स्थान पर योग प्रचारार्थ गया था। वहाँ पर एक व्यक्ति ने मुझसे कहा कि तीन महिने के अन्दर–अन्दर अवश्य प्रलय आ जायेगी। मैंने तीन महिने उसी प्रान्त में वास किया किन्तु उसकी वाणी लवलेश मात्र से भी सत्य न हुई क्योंकि वक्ता अयथार्थ था और दृष्टानुमितार्थ नहीं था। अब तक वृत्ति का परिणाम रूप यहाँ समझाया गया। अब इससे आगे विपर्यय वृत्ति को बतलाते हैं। जिसको अविद्या रूप से कहा गया है।

'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्'

यथार्थ रूप में स्थित न होने वाले ज्ञान को विपर्यय मिथ्या ज्ञान कहा गया है। यह ज्ञान एक प्रकार का भ्रान्ति दर्शन एवं अविद्या कहा जाता है। कोई–कोई लोग इस विपर्यय ज्ञान को भी प्रमाण वृत्ति के अन्दर समावेशित करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। प्रमाण वृत्ति का विषय पहले सूत्र में खोलकर बतला दिया गया है। इसमें प्रमाण के द्वारा अप्रमाण का बाध हो जाता है। जैसे आँख को दबाने से एक–एक वस्तु भी दो–दो वस्तु दीखने लगती है यथार्थ में वस्तु एक ही होती है, दो नहीं। यदि आँख को दबाने से दो चन्द्रमा दिखाई देने लग जायें तो इसका अर्थ यह नहीं कि एक चन्द्रमा के दो चन्द्रमा हो गये। चन्द्रमा एक ही है दूसरे चन्द्रमा का दीखना भ्रान्ति–दर्शन है। इसलिए यह प्रामाणिक बात नहीं मानी जाती। प्रत्युत अविद्या है। क्योंकि यह अतद्रूप प्रतिष्ठित है। अब इससे आगे विकल्प वृत्ति का वर्णन करते हैं –

शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्योविकल्पः।

स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययो पारोही च, वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञान माहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते, तद्यथा चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपमिति। यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते। भवति च व्यपदेशे वृत्तिर्यथा चैत्रस्य गौरिति।

सूत्र में बहुत ही सरल और सीधे शब्दों में भगवान पतंजलि देव ने बतला दिया कि शब्द ज्ञान का अनुपतन करने वाली वृत्ति विकल्प वृत्ति है। शब्द ज्ञान से जो वस्तु भासित तो होती है, वस्तुतः होती नहीं। यह विकल्प वृत्ति न प्रमाण में लगायी जा सकती है और न मिथ्या ज्ञान में। क्योंकि वह वस्तु सत्ता कुछ भी नहीं है। किन्तु शब्द ज्ञान से भासित होती है। जैसे कोई कहे कि चेतनता ही पुरुष का स्वरूप है वस्तुतः तो चेतनता पुरुष का रूप नहीं प्रत्युत चितिरेव पुरुष, चेतनता ही पुरुष का स्वरूप है। यह शब्द चेतनता को पुरुष का धर्म बतला रहे हैं किन्तु चेतनता पुरुष का धर्म नहीं। प्रत्युत चेतनता ही पुरुष है इसलिए वस्तुशून्य शब्द ज्ञान का अनुपतन करने वाली वृत्ति को विकल्प वृत्ति कहते हैं। इसके बाद निद्रा वृत्ति का वर्णन करते हैं –

अभाव प्रत्ययावलम्बना वृत्तिर्निद्रा।

अर्थात् बोध के अभाव का आश्रय लेने वाली वृत्ति को निद्रा वृत्ति कहते हैं। जिस समय मनुष्य

सुषुप्ति में पहुँच जाता है उस समय सभी प्रकार के ज्ञान का अभाव हो जाता है। अर्थात् ज्ञान भासित नहीं होता। इसलिए निद्रा वृत्ति अभाव के कारण का ही आश्रय लेती है। सभी प्रकार के ज्ञान की शून्यता रहती है, इसलिए इस वृत्तिको अभावआश्रित माना गया है। किन्तु है वृत्ति ही। क्योंकि सोने के बाद में जब मनुष्य उठता है तब उसको अपनी निद्रा वृत्ति का ज्ञान अवश्य होता है कि आज तो मैं बहुत ही सुखपूर्वक सोया या दु:खपूर्वक सोया। चित्त वृत्ति को दु:ख और सुख के साथ सोने का आभास बना रहता है। देखिये इस सूत्र पर व्यास जी का भाष्य –

सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात् प्रत्यय विशेष:, कथं सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मन: प्रज्ञां मे विशारदी करोति, दु:खमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनोभ्रमत्यनवस्थितं, गाढ़ मूढोऽहमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि क्लान्तं मे चित्तमलसं मुषितमिव तिष्ठतीति, स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे, तदाश्रिता स्मृतयश्च तद्विषया न स्यु:, तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा, सा च समाधावितर प्रत्ययवन्निरोद्धव्येति।

अभाव प्रत्यय का अवलम्ब लेने वाली वृत्ति प्रबोधकाल में एक विशेष ज्ञान को पैदा करती है। इसलिए वह प्रत्यय विशेष है, जैसे आज मैं सुखपूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है, बुद्धि प्रकाश कर रही है, मेरी बुद्धि विक्षिप्त है। मैं आज बिल्कुल नहीं सोया, मेरा मन अकर्मण्य सा हो रहा है, आज मैं अत्यन्त गाढ़ निद्रा में सोया। मेरे शरीर के अंग भारी हो रहे हैं, चित्त अत्यंत व्याकुल है, आलस्य युक्त मन चुराया सा हो रहा है। यदि निद्रा को वृत्ति न माना जाय तो जागने पर इस प्रकार के विचार मन में न आयें, क्योंकि वृत्तियों के अनुभव के बिना वृत्तियों का आश्रय लेने वाली स्मृतियाँ उस विषय की नहीं होनी चाहिये। पाँचवी वृत्ति **स्मृति** है। स्मृति का लक्षण भगवान पतंजलि देव इस प्रकार करते हैं –

अनुभूत विषया संप्रमोष: स्मृति:

अनुभव किये विषय का न चुराया जाना स्मृति कहलाती है। इस सूत्र पर प्रश्नोत्तर लिए हुए व्यास भाष्य की पंक्ति पढ़िये –

किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति, आहोस्विद्विषयस्येति ग्राह्यो परक्त: प्रत्ययोग्राह्य ग्रहणो भयाकार निर्भासः तथाजातीयकं संस्कारमारभते, स संस्कार: स्वव्यंजकां जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति। तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धि:, ग्राह्याकार पूर्वा स्मृति:, सा च द्वयी–भावितस्मर्त्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च, स्वप्ने भावितस्मर्त्तव्या, जाग्रतसमये त्वभावितस्मर्त्तव्येति, सर्वा: स्मृतयप्रमाण विपर्यय विकल्पन्द्रास्मृतीनामनुभावाद् भवन्ति, सर्वाश्चैता वृत्तय: सुखदु:ख मोहात्मिका: सुखदु:खमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येया:, सुखानुशयी राग:, दु:खानुशयी द्वेष: मोह: पुनरविद्येति, एता: सर्वावृत्तयो निरोद्धव्या: आसां निरोधे संप्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसम्प्रज्ञातो वेति।

ऊपर के सूत्र में यह बताया गया है कि अनुभूत विषय का न चुराया जाना ही स्मृति है। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि पूर्व काल में अनुभव की वृत्तियों को भी चित्त स्मरण करता है या विषय को, ग्राह्य विषय के अन्दर लगा हुआ बुद्धि का ज्ञान ग्राह्य ग्रहण उभयाकार में भासित होने वाला उसी प्रकार के संस्कार उत्पन्न करता है और वह संस्कार अपने कारण के आकार से बोधक होता हुआ ग्राह्य ग्रहणाकार स्मृति को जन्म देता है। उनमें से ग्रहणस्वरूप वाली बुद्धि और विषय के स्वरूप वाली स्मृति दो प्रकार की मानी गयी है। एक का नाम भावितस्मृति एवं दूसरी का नाम **अभावितस्मृति** है अर्थात्

एक स्मृति वो जो इस समय विद्यमान पदार्थों से बनती है और दूसरी वह जो अविद्यमान पदार्थों के स्मरण से बनती है। स्वप्नावस्था में जिन पदार्थों का स्मरण होता है, वह जाग्रतावस्था में प्रायः देखे हुए होते हैं, इसलिए इसको भावितव्यास्मृति कहते हैं। और जाग्रत अवस्था में स्वप्नावस्था के पदार्थों की स्मृति होती है वह अभावितव्यास्मृति कहलाती है। और ये सारी स्मृतियाँ प्रमाण–विपर्यय–विकल्प–निद्रा–स्मृति इन पाँचों के अनुभव से पैदा होती है। ये सब स्मृतियाँ सुख, दुःख एवं मोह रूप है। सुख, दुःख, मोह आदि क्लेशों के अन्तर्गत बताये गये है। जैसे **सुखनुशयी राग :** सुख भोग के बाद जो सुख की वासनायें मन में रह जाती है वही राग कहलाता है। **दुःखानुशयी द्वेष :** दुःख भोगने के बाद दुःख भोग के कारण भूत साधनों पर जो क्रोध पैदा होता है उसी को द्वेष कहते हैं। मोह नाम अविद्या का है ये सभी वृत्तियाँ निरोधव्या है। इनके निरोध करने के लिए सम्प्रज्ञात योग ही प्रधान उपाय है। जहाँ से भगवान पतंजलि देव ने प्रमाण–विपर्यय–विकल्पस्मृति आदि लक्षण बतलाये उनके आरम्भ में ही चित्त वृत्ति निरोधो योग, कह करके चित्त वृत्तियों के निरोध का आशीर्वाद दिया। ग्राह्य ग्रहण उभयात्मक ज्ञान चित्त वृत्ति निरोध के द्वारा ही हटाया जा सकता है। अन्य और कोई उपाय नहीं है। इसी कारण से भगवान पतंजलि देव ने चित्त वृत्ति निरोध कहकर के निरोध को ही योग बतलाया। और निरोध के उपायों का भी वर्णन किया। इस छोटे से लेख में हमने चित्त की वृत्तियों के क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों के रूप को समझाने की चेष्टा की। इससे आगे के लेख में चित्त वृत्ति निरोध के उपायों पर विचार करेंगे। चित्त की वृत्तियाँ शाखा प्रशाखा रूप से चाहे कितने ही रूप धारण कर ले किन्तु वे सब के सब प्रमाण विपर्यय–विकल्प–निद्रा एवं स्मृति के अन्तर्गत ही होती है। इन वृत्तियों के निरोध हो जाने पर छोटी–मोटी सभी वृत्तियाँ स्वतः ही निरुद्ध हो जाये। हमारे सब प्रकार से परिपूर्ण अनुभव वाले आचार्यों ने इन सभी सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों को भली प्रकार समझकर प्रमाण–विपर्यय आदि के अन्दर समावेशित करके दिखला दिया। इनके निरोध के लिए क्या करना चाहिये? इससे आगे के विषय को अग्रिम लेख में समझाने की चेष्टा करेंगे।

□□□

संसार के सभी महापुरुष, साधु और सिद्धपुरुषों ने क्या किया है? उन्होंने एक जन्म में ही, समय को कम करके, उन सब अवस्थाओं का भोग कर लिया है, जिनमें से होते हुए साधारण मानव करोड़ों जन्मों में मुक्त होता है। एक जन्म में ही वे अपनी मुक्ति का मार्ग तय कर लेते हैं। वे दूसरी कोई चिन्ता नहीं करते, दूसरी बात के लिए एक निमिषमात्र भी समय नहीं देते। उनका पल भर भी व्यर्थ नहीं जाता। इस प्रकार उनकी मुक्ति का समय घट जाता है। एकाग्रता का यही अर्थ है कि शक्तिसंचय की क्षमता को बढ़ाकर समय को घटा लेना।

–स्वामी विवेकानन्द

• सम्पादकीय

भगवान कपिल एवं सांख्य योग

आचार्य (डा.) रामलाल शर्मा

भगवान कपिल , भगवान विष्णु के अवतार माने जाते है। महर्षि कर्दम के हजारों वर्षों की आराधना व ध्यानसाधना के फलस्वरूप प्रजापति ब्रह्मा की पुत्री देवहूति के गर्भ से भगवान कपिल का प्राकट्य हुआ। माता देवहूति इनकी स्तुति करती हुई कहती है –

'स्वतेजसा ध्वस्तगुण प्रवाह वन्दे विष्णु कपिल वेदगर्भम्' । गीता के दसवें अध्याय में जगदात्मा भगवान कृष्ण चन्द्र जी महाराज **'सिद्धानाम्' कपिलो मुनिः'** कहकर कपिल महर्षि को अपना रूप मानते हैं। महर्षि कपिल ने सांख्य सूत्रों का प्रणयन किया है, जो कालान्तर में सांख्य दर्शन के रूप में समादृत हुआ है। प्रकृति पुरुष के ज्ञान का अपरोक्षानुभूति द्वारा साक्षात्कार करके तत्त्वज्ञान प्राप्त किया जाये, उस दर्शन को **'सांख्य योग'** कहा गया है। इस प्रकार से सांख्य ज्ञान का ही पर्याय है। सांख्य सैद्धान्तिक पक्ष है तो योग इसका क्रियात्मक पक्ष है। इसलिए दोनों को मिलाकर एक ही दर्शन **'सांख्य योग'** के रूप में व्यवहृत होता है। गीता के दूसरे अध्याय में समाधि एवं स्थितप्रज्ञता का वर्णन हुआ है, इसी कारण से इस अध्याय का नाम **'सांख्य योग'** है। भगवान कपिल आदि सिद्ध महायोगी हैं। समय–समय पर प्रकट होकर अपने अधिकारी शिष्यों को योग का अमर ज्ञान देते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे निर्माणकाय विधि से योग शरीर धारण कर शिष्यों को उपदेश देते हैं। आसुरि नाम के अपने एक शिष्य को उन्होंने इसी प्रकार से निर्मित शरीर से उपदेश दिया था। बीसवीं सदी में अनादि सिद्ध महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने अपने संस्कारी शिष्यों को योग का अमर ज्ञान देने के लिए निर्माण काय से एक ही समय में अनेक स्थलों पर प्रकट रहकर योग का अमर ज्ञान दिया है। ऐसे अनादि सिद्ध योगियों का इस प्रकार शरीर धारण कर ज्ञान का प्रचार प्रसार करना योगावतार या ज्ञानावतार ही कहा जा सकता है।

समय–समय पर योग ज्ञान की धारा विच्छिन्न होती रही है,किन्तु अनादि महायोगी सिद्ध इस योग धारा को सतत् प्रवाहमान रखते आये हैं। गीता के अनुसार इस अविनाशी योग विद्या के प्रथम उपदेष्टा के रूप में भगवान श्री कृष्ण हैं जिन्होंने सर्वप्रथम विवस्वान (सूर्य) को इसका उपदेश किया था। बहुत काल तक यह परम्परा चलती रही किन्तु कालान्तर में लोप हो गया। पुनः द्वापर युग में भगवान ने इसका उपदेश अर्जुन को गीता के माध्यम से किया है। उपनिषदों में **'हिरण्यगर्भ'** को योग का प्रथम उपदेष्टा कहा है। कई विचारकों के मत में **'हिरण्यगर्भ'** कपिल ही है। श्रीमद्भागवत महापुराण के तीसरे स्कन्ध में भगवान योगेश्वर कपिल ने अपनी माता देवहूति को सांख्ययोग का विस्तार से नौ अध्यायों में उपदेश दिया है। माता देवहूति के

प्रार्थना करने पर कपिल भगवान ने जो उपदेश दिया है वह बहुत ही सारगर्भित है। भगवान ने कहा –

योग आध्यात्मिक पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःख च सुखस्य च।।

अर्थात् मनुष्य की मुक्ति का एकमात्र मार्ग **आध्यात्म योग** अथवा **ध्यान योग** है। इसी से मनुष्य के सुख दुःख की अत्यन्त निवृत्ति होती है और मनुष्य अपने स्वरूप में अवस्थित होकर परम आनन्द में लीन हो जाता है। भगवान पतंजलिदेव जी ने योग दर्शन में निर्बीज समाधि का फल बताते हुए कहा है – **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** अर्थात् पूर्ण चित्त वृत्ति हो जाने पर दृष्टा आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। कपिल भगवान के आध्यात्म योग का भी फल कैवल्य मुक्ति ही है।

कपिल भगवान सृष्टि के आदि में प्रकट अध्यात्म योग के प्रथम योगाचार्य हैं। पतंजलि देव का उद्‌भव दो ढाई हजार वर्ष पूर्व माना जाता है। इस प्रकार से पतंजलि जी कपिल भगवान के परवर्ती योग आचार्य हैं, जिन्होंने योग के यत्रतत्र बिखरे मोतियों को एक सूत्र में पिरोकर योग दर्शन का रूप दिया है। महर्षि कपिल ने माता देवहूति को सांख्य के पच्चीस तत्वों का उपदेश दिया है। इनमें चौबीस तत्व जड़ प्रकृति का संघात है। पच्चीसवाँ तत्व दृष्टा, आत्मा व भगवान काल पुरुष के नाम से जाने जाते हैं। जो तीव्र समाधि के द्वारा अज्ञान और मोह को ध्वस्त कर देता है, वह आत्यान्तिक अखण्ड शान्ति को प्राप्त करता है। भगवान कहते हैं –

ज्ञानेन दृष्ट तत्वेन वैराग्येण बलीयसा।
तपो युक्तेन योगेन तीव्रेणात्म समाधिना।

दृष्ट वा अनुभूत तत्व ज्ञान से, प्रबल वैराग्य से, तपपूर्वक ध्यान योग से तथा आत्म समाधि से अविद्या जन्य मोह का सर्वथा नाश हो जाता है। तृतीय स्कन्ध के अट्‌ठाइसवें अध्याय में यम नियम सहित अष्टांग योग का विशद् वर्णन आया है, इस विषय में कहा गया है –

प्राणायामेन दहेद्‌दोषान् धारणाभिश्च किल्विषान्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यायेनानीश्वरान् गुणान्।।

अर्थात योगी प्राणायाम (रेचक कुम्भक) से शरीर एवं इन्द्रियों के मल दोषों को जला डाले। धारणा के अभ्यास से पापों को धो डाले। प्रत्याहार से संसर्गज दोषों को हटा ले तथा ध्यान योग के अभ्यास से अनीश्वर गुणों को अर्थात् जन्म मृत्यु को देने वाले क्लिष्ट कर्म संस्कारों का उच्छेदन कर दें। प्राणायाम के रेचक कुम्भक के द्वारा प्राण के मार्ग का शोधन कर ले। यम नियम के पालन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, तप, शौच, स्वाध्याय एवं ईश्वराराधन करें। इसी अध्याय में कपिल भगवान ने माता देवहूति को सगुण

ध्यान का उपदेश दिया है। योगी को भगवान के श्री विग्रह का, रूप का नख से शिख तक ध्यान करना चाहिये। अभ्यास योग के द्वारा अभ्यास करते –करते मन शनैः शनैः भगवान के रूप में समाहित होने लगता है। गीता में भी भगवान ने 'मय्येव मन **आधत्स्व मयि बुद्धिम् निवेशाय**' कहकर अर्जुन को सगुण ध्यान का उपदेश दिया है। उसमें सफलता पा जाने पर भक्त भगवान में तद्रुपता को पा जाता है, यही उसके मुक्ति का कारण बन जाता है। यह योग विज्ञान की अत्यधिक रहस्यपूर्ण प्रक्रिया है। जो अनन्यनिष्ठ होकर भगवान का ध्यान करते हैं, उनके लिए कपिल भगवान कहते हैं –

विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेव विश्वतोमुखम्।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरति पारये।।

अर्थात् जो भक्त संसार के समस्त सम्बन्ध व सहारों को छोड़कर सब प्रकार से मेरी शरणागत होकर मेरा ध्यान करता है उसे मैं मृत्यु रूपी सागर से पार उतार देता हूँ।' इस प्रकार से कपिल भगवान ने माता देवहुति को परम तत्व का ज्ञान दिया। जिससे हृदयग्रन्थि का भेदन हो जाता है और योगी कैवल्यपद का अधिकारी बन जाता है। माता देवहूति ने कपिल भगवान की कृपा से ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त कर लिया। जैसा निम्न श्लोक से स्पष्ट है

एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचरतः परम्।
आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं भगवन्तमवाप ह।।

अर्थात् देवहूति भगवान कपिल के योगोपदेश से कृतकृत्य होकर ब्रह्म निर्वाण रूप भगवान को प्राप्त हो गयी। महायोगी कपिल भी पिता के आश्रम से चलकर उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर और तीनों लोकों की शान्ति के लिए निर्विकल्प समाधि में चले गये।

□□□

शोक संवेदना

यह सूचित करते हुए दुःख हो रहा है कि लखनऊ निवासी श्री त्रिभुवन नाथ मिश्र का 2 नवम्बर 2006 को हृदयगति रुक जाने के कारण निधन हो गया है। श्री प्रभुजी से प्रार्थना है कि वे अपने उभय चरणों में उन्हें स्थान दें। दुःखी परिवार के प्रति इस दुखद अवसर पर हम हार्दिक संवेदना प्रकट करते हैं।

– सम्पादक 'सिद्धयोग'

पशु और मनुष्य

– वासुदेव शरण अग्रवाल –

मनुष्य का मन या मस्तिष्क इतनी पूर्ण वस्तु है कि अर्वाचीन वैज्ञानिक भी इसके विषय में बहुत कम जान पाये हैं। इस समय तीन प्रमुख विद्यायें है – प्राणितत्व शास्त्र, भौतिक विज्ञान, विज्ञान और मानस शास्त्र या मनोविज्ञान। प्राणि विद्या के पण्डित जीवन या चैतन्य की खोज करते हैं। उनके अनुसन्धानों का प्रधान क्षेत्र जीवन–कोष या सेल है, जिनमें वे चैतन्य का अनुमान करते हैं। बहुत प्रयत्नों के बाद भी यह नहीं ज्ञात हो सका है कि घटक–कोष में जिनके समुदाय से चैतन्य का जीवन प्रकट होता है, प्राण किस प्रकार उत्पन्न होता है। भौतिक विज्ञान का सर्वस्व परमाणु है। उसकी आन्तरिक रचना और स्वरूप के विषय में भी अब तक जो कुछ मालूम हो सका है, वह बहुत ही अपर्याप्त है। मानस शास्त्र का सम्बन्ध मन की शक्तियों से है। मन के स्वरूप का निर्णय करना उपर्युक्त दोनों शास्त्र–विषयों से भी बहुत अधिक कठिन है। चैतन्य के स्फुरणों को ग्रहण करने में समर्थ मन के सदृश अन्य कोई भी पदार्थ इस जगत में नहीं है। जड़ और चैतन्य की पारस्परिक क्रिया–प्रतिक्रियाओं का माध्यम मन है।

इस समय तक पश्चिमी शास्त्री को इतना मालूम हुआ है कि मन के दो भाग है – प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्हें ही जाग्रत और सुषुप्त कहते हैं। सुषुप्त या परोक्ष निहित मन यदि परिमाण में एक सहस्त्र राशिक माना जाय, तो प्रत्यक्ष मन उसकी तुलना मे एक अंश के बराबर समझना चाहिये। हमारा ज्ञान, विचार, स्मृति मेधा, इनका बहुत अधिक व्यापार जाग्रत मानस से ही निवृत्त होता है। परन्तु उसकी विभूति परोक्ष मन की तुलना में इतनी ही है, जितनी ब्रह्माण्ड की तुलना मे एक परमाणु की।

हमारे समस्त संस्कार – इस जन्म के और जन्म जन्मान्तरों के भी, इसी परोक्ष मानस के श्वेत पत्र पर छपे रहते है। उस पर पड़े हुए अक्स अनन्त है। उनमें से कुछ गिनती के छापों को ही हम प्रयत्न से स्पष्ट सिद्ध कर पाते हैं।

इस निहित शक्ति के कारण ही छोटी सी नरदेह मे समाया हुआ मनुष्य भी अत्यन्त महान् और विराट है। प्रत्यक्ष मन शान्त, मर्त्य और स्वल्प है। परोक्ष मन अनन्त, अमृत और भूमा है। उपनिषद् में कहा है – **'यो वै भूमा तदमृतम्'**। भूमा की ओर अग्रसर होने में ही मनुष्य के लिए पूर्णता की प्राप्ति है।

मनोविज्ञान शास्त्र के अनुसार बचपन में अधिकतर कार्य मन के परोक्ष भाग से ही निष्पन्न होते हैं। परन्तु उत्पन्न हुए बच्चे के मस्तिष्क में वह भाग जिस पर उसका ज्ञानपूर्वक अधिकार हो, अनधिकृत या स्वतन्त्र भाग की अपेक्षा बहुत कम होता है। ज्यों–ज्यों वह बढ़ता है और नवीन अनुभव प्राप्त करता है, उसके प्रत्यक्ष मानस भाग का क्षेत्र विकसित होता जाता है। वैदिक परिभाषा में प्रत्यक्ष भाग की संज्ञा मनुष्य और परोक्ष की पशु है। मनुष्य और पशु शब्दों का धात्वार्थ ही इस बात को बतासा

है कि **मनुते इति मनुष्यः**। जिसमें मनन या स्वयं चिंतन की शक्ति है, वह मनुष्य भाग है। **पश्यतीति पशुः**। जिसमें नैसर्गिक प्रवृत्ति से देखने या अनुभव की शक्ति है, वह पशु है। मनुष्य बुद्धिप्रधान है, और पशु चित्त प्रधान है। पुरुष में बुद्धि और चित्त दोनों का समन्वय है। मन्त्रों की भाषा में मस्तिष्क के बुद्धि प्रधान भाग का नाम **इन्द्र** और चित्त प्रधान का नाम **अग्नि** है।

बुद्धि के द्वारा हम जितनी उन्नति करते है, वह चित्त की उन्नति या संस्कार के बिना बिल्कुल अपूर्ण और अधूरी है। केवल बुद्धि की उन्नति से मनुष्य का पशु भाग शान्त और संयत नहीं बनाया जा सकता। सदाचार, संयम, पवित्रता आदि दैवी गुणों की स्थिति का अधिकतम श्रेय बुद्धि की उन्नति को ही है। प्रायः देखने में आता है, कि मनुष्य में दिमागी तरक्की खूब पायी जाती है। लेकिन चित्त की वृत्तियों पर काबू न पाने की वजह से कोई-कोई दबी हुई प्रवृत्ति अकस्मात् ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ती है और बुद्धिपूर्वक बनाये हुए उन्नति के विशाल भवन को क्षणमात्र में नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। चित्त का सम्पूर्ण ज्ञान और उसकी सब निहित शक्तियों का संयम ही सच्ची मानवी संस्कृति है।

पश्चिमी ढंग से चलाई हुई शिक्षा की रीति में भी बुद्धि या इन्द्र को ही खूब विकसित करने की ओर ध्यान दिया जाता है, चित्त वृत्तियों पर संयम प्राप्त करके उन्हें अपने अधिकार में लाने की शिक्षा उस शिक्षा प्रणाली का अभिन्न अंग नहीं है।

इसके विपरीत, भारतवर्ष के ऋषियों ने मनुष्य की इन दो मनः शक्तियों के तारतम्य को अच्छी तरह जान लिया था। शुरू से ही उनकी शिक्षा प्रणाली में मनुष्य के पशु भाग या चित्त को समुन्नत बनाने पर बहुत ध्यान दिया जाता था। ब्रह्मचर्य, पवित्रता, सत्यादि गुणों पर जो इतना अधिक ध्यान दिया गया था, उसका कारण और रहस्य यह ही है। '**अब्रह्मचारी को विद्या मत पढ़ाओ**' यह विधान क्यों बनाया गया? मानो ज्ञान ने स्वयं प्रकट होकर आचार्य से कहा-

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्त मेधाविन ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न दुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्।।

पवित्र सावधान मेधावी ब्रह्मचारी ही ज्ञान-निधि की रक्षा कर सकता है, उसे ही मुझे देना। यज्ञ के कर्मकाण्ड में पशुओं का उत्सर्ग भी इसी आध्यात्म अर्थ का द्योतक है। मनुष्य स्वयं एक पशु है, जो यूप से बँधा हुआ है मेरुदण्ड ही वह यूप है, जिसमें प्राकृतिक विधान के अनुसार (ऋत-सत्य के अनुसार) मनुष्य रूपी पशु बँधा हुआ है। पशु भाव को देवत्व में कल्पित करके उसे स्वर्गस्थ बनाना ही याज्ञिक कर्मकाण्ड का उद्देश्य है। मेरुदण्ड रूपी यूप का ऊर्ध्व भाग मस्तिष्क है। वैदिक परिभाषा में वही स्वर्ग है। समस्त पशु प्रवृत्तियों को वश में कर के उन्हें स्वर्ग या मस्तिष्क के अधिकार में करना ही यज्ञ की सिद्धि है।

पुरातन योग विद्या का उद्देश्य भी मस्तिष्क के चित्त भाग पर अधिक से अधिक अनुशासन प्राप्त करना था - **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**।

मनुष्य के भीतर प्राण या जीवन-शक्ति सब से अधिक आश्चर्य की वस्तु है। मनुष्य क्या है? उसके स्थूल पिण्ड को भेद कर देखिये, वह प्राण और अपान दो संयुक्त तारों का एक टुकड़ा है, जैसे विद्युत-प्रवाह के साधनी भूत दो विभिन्न ऋण-धन तारों का एकत्र मिलन रहता है, वैसा ही तत्व नरदेह की इस चमत्कार पूर्ण कारीगरी में है। वह इन दो प्राणों के संयोग से स्वयं पूर्ण है। इनके तारतम्य के विच्छिन्न हो जाने से प्राण उखड़ जो है। इस प्राण धारा का संयोग विश्वव्यापी महाप्राण से है, जो

वायु, जल, अन्न आदि नाना रूपों मे हमारे चारों और फैला हुआ है। महाप्राण के साथ सामंजस्य या
संज्ञान की प्राप्ति ही देहस्थ प्राण के लिए अमरपन है, यही पुरातन योग है। इस संज्ञान का नाम ही
समाधि है। इससे भिन्न विषमता या व्याधि है। वेदादि शास्त्रों की सार्वभौम वैज्ञानिकता के दावे की
सबसे महत्वपूर्ण बुनियाद यही है कि प्राण रूपी विद्युत के जितने सूक्ष्म नियमों का वर्णन और निरूपण
इनमें मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। वस्तुतः प्राण और अपान ही प्राण के दो भेद हैं, जिस तरह
एक ही विद्युत के उपाधि भेद से ऋण और धन नाम कल्पित कर लिए गये हैं। बिना द्विविधता के विद्युत
का कोई कार्य नहीं हो सकता। समस्त प्राजापत्य कर्म में नर–नारी, स्त्री–पुरुष, ऋण–धन आदि दो
भागों की अनिवार्य स्थिति चाहिये।

बुद्धि और चित्त अथवा इन्द्र और अग्नि को संयुक्त देवता मानकर यज्ञ में द्विदेवत्य कर्म किये
जाते है। इन्द्र कर्मेन्द्रिय का स्वामी है। अग्नि ज्ञानेन्द्रियों का। मस्तिष्क के मोटर कर्म और सेंसरी ज्ञान
भाग बहुत प्रसिद्ध है। हमारी स्थिति के लिए दोनों ही आवश्यक है। यज्ञ में दोनों को भाग या हवि दिया
जाता है। मानस–शास्त्र के विद्वानों को वैदिक मनोविज्ञान पर विशेष ध्यान देना उचित है। देव और
असुर, स्वर्ग और पृथ्वी, सोम और प्राण, शिव और इन्द्राग्नि आदि मानस–शास्त्र के शब्द है। जिन
वाक्, प्राण और मन का समन्वय नरदेह में है, उन्हीं तीनों के सहस्रात्मक व्यापारों का वर्णन वैदिक
मन्त्रों और याज्ञिक कर्मकाण्ड में पाया जाता है।

□□□

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावा–
दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय 1/2)

अर्थात् काल, स्वभाव, निश्चित फल देने वाला कर्म, आकस्मिक घटना, पाँचों महाभूत, जीवात्मा कारण है, इस पर विचार करना चाहिये। इन काल आदि का समुदाय भी इस जगत का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि वे चेतन आत्मा के अधीन हैं (जड़ होने के कारण स्वतन्त्र नहीं)। जीवात्मा भी इस जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह सुख–दुःखों के हेतुभूत प्रारब्ध के अधीन है, स्वतन्त्र नहीं है।

आध्यात्म सिद्धि का गणितीय सूत्र (3)

डॉ. ऋषिराम शर्मा (लखनऊ)

ज्ञान तीन प्रकार का होता है। प्रथम भौतिक ज्ञान है जोकि इन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि के द्वारा भौतिक पदार्थों के विषय में वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से प्राप्त होता है। दूसरा प्रातिभ ज्ञान है जो कि ध्यान तथा सबीज समाधि के माध्यम से पदार्थों के सूक्ष्म तत्वों तथा दिव्य लोकों और उनके ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है और तीसरा ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान है जोकि परमात्मा के स्वरूप को जानने तथा उसमें प्रवेश करने के लिए किया जाता है। प्रथम दोनों ज्ञान गुणात्मक है और माया की गुणों की विशिष्ट अवस्थाओं में प्राप्त होता है। गुणों की चार अवस्थायें हैं –

'विशेषाविशेषलिंग मात्रालिंगानि गुणपर्वाणि'

अर्थात् विशेष तथा अविशेष अवस्थाओं में भौतिक ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा अविशेष; लिंगमात्र तथा अलिंग अवस्थाओं में प्रकृति के स्थूल एवं सूक्ष्म सभी तत्वों का प्रातिभज्ञान प्राप्त होता है। आध्यात्मिक ज्ञान की अनुभूति निर्गुण अवस्था में निर्बीज समाधि में होती है। अतः उसे कैवल्य ज्ञान भी कहा जाता है, क्योंकि द्वैत समाप्त हो जाता है, सब कुछ परमात्मा के स्वरूप में लीन हो जाता है।

एक और बात समझना आवश्यक है कि शास्त्रों का परमात्मविषयक शब्दज्ञान पूर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि–

'न गच्छति विना पानं व्याधिः औषधशब्दतः।'
विना अपरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैः न मुच्यते।।

अर्थात् किसी औषधि का सेवन किये बिना केवल उसके नाममात्र से रोग दूर नहीं होता। उसी प्रकार योगसिद्धि के द्वारा निर्बीज समाधि में जाकर प्रत्यक्ष अनुभव किये बिना केवल ब्रह्मज्ञान के शब्द ज्ञान से मोक्ष नहीं मिलता। भगवान श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि –

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेन आत्मनि विन्दति।।

अर्थात् परमात्म ज्ञान के समान कोई भी ज्ञान परम पवित्र नहीं है और वह आत्मतत्व में समय आने पर योगसिद्धि के पश्चात् स्वयं प्रकट होता है। उपनिषद् परमात्मज्ञान की प्राप्ति के लक्षण बताते हैं कि –

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैः जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवलं आप्तकामः।।
(श्वेता. 1/11)

अर्थात् परमात्मा का ज्ञान होने के फलस्वरूप समस्त कर्मबन्धन, सर्वसंशय तथा अज्ञानजनित मायिक बन्धन टूट जाते हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश आदि पंच क्लेशों के क्षीण होने से जन्म मृत्यु का आवागमन समाप्त हो जाता है। उस परमात्मा के स्वरूपसाक्षात्कार से शरीर छूटने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है और इस जगत में भी वह आप्तकाम होकर विश्व के समस्त ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है।

भगवान श्रीकृष्ण भी इसी की पुष्टि करते हैं –

इदं ज्ञानं उपाश्रित्य मम साधर्म्यमागतः।
सर्गे अपि नोजायन्ते प्रलये न व्यथयन्ति च।।

अर्थात परमात्मा का सम्यक अपरोक्ष ज्ञान का अनुभव हो जाने पर जीवात्म भाव परमात्म भाव मे विलीन हो जाता है। ठीक वैसे ही जैसे कि प्रकाश के आने पर अंधकार विलीन हो जाता है। अपने सत्यस्वरूप को प्राप्त करने के बाद वह जन्म–मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस स्थिति को ही आध्यात्मिक सिद्धि या परमात्मस्वरूप की प्राप्ति कहते है।

2(I) संस्कार (आध्यात्मिक)

हमारे जीवन मे संस्कारों का बहुत महत्व है। हम जो भी कर्म करते है या संकल्प करते है, वह सब संस्कार के रूप मे अन्तःकरण मे चिन्हित हो जाता है। जिस तरह वर्ल्ड वेबसाइट पर डाला गया विषय इन्टरनेट पर चिन्हित हो जाता है। जन्म–जन्मान्तर तक संस्कार के रूप में कर्माशय बना रहता है। गीता मे इसका प्रमाण है कि –

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
ग्रहीत्वेतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।

अर्थात् जीवात्मा नवीन शरीर धारण करती है अथवा शरीर छोड़कर मृत्यु को प्राप्त होती है और कर्मानुसार किसी भी लोकान्तर मे जाती है, तो इन संस्कारों को साथ लेकर जाती है, जिस प्रकार कि वायु किसी भी गन्धयुक्त पदार्थ को स्पर्श करने के बाद उसकी गन्ध को अपने साथ ले जाती है। यह संस्कार इन्द्रियों मन तथा बुद्धि की संघात अन्तःकरण में रहते है। जब मृत्यु होती है, तब उस समय की प्रक्रिया का उपनिषद् मे इस प्रकार वर्णन किया गया है –

अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयते वाङ्मनसि सम्पद्यते
मनः प्राणे, प्राणः तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्
यच्चित्तः तेनैषः प्राणमायाति प्राणः तेजसा युक्तः
सहात्मना यथासंकल्पित लोकं नयति

अर्थात् हे सोम्य ! जब जीवात्मा शरीर छोड़ता है तब उसकी इन्द्रियाँ मन मे लीन हो जाती है, मन तथा बुद्धि प्राण मे लीन हो जाते है, प्राण आत्मा के तेज मे लीन हो जाता है। इस प्रकार इस संघात के साथ वह आत्मतेज पूर्व संकल्पों के अनुकूल परमात्मा की माया के द्वारा यथोचित लोक मे उसकी गति होती है। यह तेजोमय प्राण शरीर कर्माशय की वायु के प्रभाव मे संस्कारों की गन्ध अपने साथ लिए भ्रमण करता है। श्रुतियों मे इसका वर्णन मिलता है कि

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः यथाक्रतुरस्ति लोके पुरुषो भवति
तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतु कुर्वीत, मनोमयः प्राणशरीरः भारुपः

(छान्दो. 3/14/2)

अर्थात् निश्चय ही यह जीवात्मा संकल्प प्रधान है, जैसा संकल्प होता है वैसा ही इस लोक मे तथा परलोकों मे उसकी गति होती है। उसके संकल्प ही संस्कार रूपी गन्ध के समान उसके साथ चलते है। इसी कारण जीवात्मा अपने मनोमय तथा प्राणमय कोष के साथ तेजरूप में विभिन्न योनियों मे प्रकट होती है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि –

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिः अहं बीजप्रदः पिता।।
सत्वं रजस्तमः इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।
ये चैव सात्विका: भावा: राजसा: तामसाश्च ये।
मत्तः एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।
दैवी हि एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

अर्थात् समस्त योनियों में जितने भी स्वरूप प्रकट होते हैं यानि जन्म लेते हैं, उनके स्वरूप वाले माता–पिता तो माया के खेल में निमित्त मात्र हैं, सत्यता तो यही है कि मेरी महामाया प्रकृति ही गर्भ धारण करने वाली माता है और परमात्मा ही बीज देने वाला पिता है। तभी तो वेदमन्त्र कहते हैं कि **'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्'** परमात्मा अपनी प्रकृति की स्वयं रचना करके स्वयं ही उसमें प्रवेश कर जाता है। उपनिषद् इसे और स्पष्ट करते हैं –

'स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति'

अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न में अपने ही तेज से अपनी ही ज्योति के प्रकाश में जागृत जगत का नाश तथा स्वप्न जगत का निर्माण होता है वैसे ही परमात्मा के द्वारा इस संसार का निर्माण होता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण स्पष्टरूप से कहते हैं कि यद्यपि जीवात्मा भी परमात्मा का अंश ही है, तथापि वह अपने ही कर्मों के फलों के कारण शरीर के बन्धन में फँसा सा दीखता है – **स्वभावजेन तु कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा'**। इस बन्धन का ताना–बाना माया के तीन गुण करते हैं। कोई भी प्रारब्ध कर्म जब फल देने को उद्यत होता है तो उसी के अनुकूल गुणों की प्रवृत्ति तथा प्रवाह उत्पन्न होता है। **सात्विक** गुण सुख की अनुभूति कराता है, **राजसी** गुण दुःख की अनुभूति कराता है तथा **तमो** गुण अज्ञान तथा मोह उत्पन्न करके बुद्धि को कुण्ठित करता है और कुण्ठित बुद्धि विनाश का कारण बनती है। गुणों के इस मायाजाल से अपने को मुक्त करना परमात्मा या गुरुदेव की कृपा बिना असम्भव सा हो जाता है। मेरे मन में भी अनेक बार यह शंका उभरती थी कि जब परमात्मा तथा सद्गुरुदेव सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान हैं और उनमें पक्षपात के विकार की धारणा बन नहीं सकती तो फिर जिस तरह महाअवतार बाबाजी ने श्यामाचरण लहरी को, हमारे दादा गुरु महाप्रभु जी ने रामरती, हरिहरानन्द, गोपालानन्द आदि को सिद्ध पुरुष बनाकर उद्धार किया, जिस प्रकार नारद जी ने वाल्मीकि जी का उद्धार किया तो फिर हमारा क्यों नहीं ? इसका सन्तोषजनक उत्तर है – **हमें उनके और अपने संस्कारों का अज्ञात होना।** इसलिए सूत्र में संस्कारों का विशेष महत्व है। महर्षि पतंजलि ने कहा है कि समाधि की अवस्था प्राप्त करने के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यान के साधनों की परिपक्वता तथा सिद्धि की आवश्यकता है, फिर भी **'भवप्रत्ययः विदेहप्रकृतिलयानाम्'** अर्थात् पूर्व जन्मों में विदेहावस्था तथा प्रकृति में लयता के संस्कार वालों को जन्म लेने मात्र से समाधि की प्राप्ति हो जाती है। यह संस्कारों का खेल है। कभी–कभी लोग परमात्मा पर यह दोष लगाते हैं कि वह कुछ लोगों पर कितना अन्याय करता है कि प्रत्यक्ष देखने में निर्दोष सताये जाते हैं, कुछ पर प्रकृति की भूकम्प, कुछ पर विस्फोट, कुछ पर अतिवर्षा, अतिगर्मी, अतिठण्डक की क्रूरता बरसती है तो कुछ निर्धनता के कारण भूख से तड़पते हैं तो कुछ मनुष्यों की ही क्रूरता के शिकार होते हैं। यह सब परमात्मा क्यों होने देता है, जबकि वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है।

इस पर महर्षि व्यास ब्रह्मसूत्र में लिखते हैं कि –

वैषम्यनैघृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति

अर्थात् समाज में जो विषमता तथा घृणा देखने में आते है, वह केवल धर्म–अधर्म की अपेक्षा के कारण है, क्योंकि कर्मविधान के अनुसार **'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'** अर्थात जो पाप या पुण्य कर्म किया गया है तो उसका भुगतान अवश्य करना पड़ता है। विडम्बना यह है कि –

पुण्यात् सुखमाप्नुवन्ति पुण्यं नैव कुर्वन्ति मानवाः
पापात् दुःखमाप्नुवन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।

अर्थात कर्मविधान के अनुसार पुण्यकर्म के फलस्वरूप सुख की प्राप्ति होती है किन्तु मनुष्य पुण्यकर्म नहीं करना चाहते तथा पापकर्म के फलस्वरूप दुःख की प्राप्ति होती है किन्तु मनुष्य यत्नपूर्वक पापकर्मों में व्यस्त रहता है। तब इस विरोधी विडम्बना में परमात्मा कहाँ दोषी है? वह तो उदासीनभाव से निरासक्त होकर साक्षित्व करता है। आध्यात्मिक सिद्धि में संस्कारों का कितना महत्वपूर्ण योगदान है, यह बात अर्जुन की शंका के समाधान में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं स्पष्ट कर दी कि अर्जुन ने भगवान से पूछा –

अयति श्रद्धया उपेतो योगात् चलितमानसः।
अप्राप्य योगसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।

अर्थात् हे भगवान ! इस जन्म में जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक योगसाधना में लगा हुआ था किन्तु किसी कारण योगभ्रष्ट हो गया और योग सिद्धि को प्राप्त किये बिना ही उसकी मृत्यु हो जाती है तो उसकी क्या गति होती है, क्या उसकी इस जन्म की साधना व्यर्थ हो जाती है? इस पर परमात्मा ने विश्वास दिलाया कि –

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशः तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।।
प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् उषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते हि अवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।

अर्थात हे पार्थ ! योग साधना में लगे हुए साधक की न इस पृथ्वी लोक में और न मृत्यु के बाद हानि होती है। इस लोक के सुख–ऐश्वर्य तो मृत्यु के बाद छूट जाते हैं, किन्तु योग साधना की कमाई संस्कार के रूप में साथ रहती है। इसीलिए कल्याणमार्ग के पथिक की कहीं भी दुर्गति नहीं होती। मृत्यु के पश्चात भी वह उन दिव्य लोकों में जाता है जहाँ पुण्यों के प्रभाव से पुण्यात्मा जीव जाते हैं। वहाँ पर पर्याप्त समय तक अपनी अतृप्त कामनाओं को पूर्ण करता है और उसके बाद शुद्ध आचरण वाले सर्वसुविधाओं से युक्त श्रीमानों के परिवार में मनुष्य लोक में जन्म लेता है अथवा दुर्लभ योग–सम्पन्न माता–पिता के घर जन्म लेता है। जन्म लेने के बाद वह पूर्व जन्म में योग साधना के द्वारा अर्जित बुद्धियोग को सहज प्राप्त करके पुनः पूर्ण योग–सिद्धि प्राप्त करने के अपने लक्ष्य को पूर्ण करता है।

पूर्व जन्म में किया गया योग अभ्यास स्वतः सुगमता से उभरने लगता है। सम्पूर्ण वातावरण उसके लिए योग–सिद्धि के अनुकूल बनता चला जाता है। इसीलिए योग का जिज्ञासु भी शब्द–ज्ञानियों से श्रेष्ठतर माना गया है, ऐसा स्वयं परमात्मा का निर्णय है।

यहाँ पर एक बात और ध्यान देने योग्य है कि आध्यात्मिक संस्कार **(I)** कभी नष्ट नहीं होते है। वासनाओं के संस्कार फल–भोग के बाद नष्ट भी होते है और अहंकार बुद्धि से किये गये कर्मों के नवीन संस्कार बनते भी जाते है। राग–द्वेष के कारण वासनाओं का ताना–बाना जीवात्मा को जीवित रखता है और जन्म–मृत्यु का संसार चक्र कर्मविधान के अनुसार चलता रहता है। किन्तु प्रत्येक जन्म में आध्यात्मिक संस्कारों की सम्पत्ति भगवत्कृपा से जीवात्मा के साथ रहती है तथा योनि विशेष के गुणों के कारण वह प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार अवस्थाओं में प्रकट होती है। परमात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने बुद्धियोग रूपी आध्यात्मिक संस्कारों के विषय में इस रहस्योद्घाटन को किया है –

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमस्य धर्मस्य: त्रायते महतो भयात्।।

अर्थात बुद्धियोग रूपी आध्यात्मिक संस्कारों का आरम्भ तो होता है यानि उपार्जन किया जा सकता है, किन्तु इसका नाश कभी नहीं होता। परमात्मा स्वयं इन संस्कारों का योग–क्षेम करता है और कोई बाधा भी नहीं आती है। अतः तनिक सा भी उपार्जित आध्यात्मिक संस्कार कभी न कभी परमात्मस्वरूप की प्राप्ति में सफल होता है। प्रत्येक जन्म के आध्यात्मिक पुरुषार्थ से आध्यात्मिक संस्कारों में वृद्धि तो होती है किन्तु हानि नहीं। यह उस करुणासागर परमात्मारूप पिता की कृपा ही है। सूत्र में तीनों मार्गों में संस्कार **(I)** के बाद पुरुषार्थ का योगदान दर्शाया गया है। जन्म से पूर्व पुरुषार्थ शून्य है, इसीलिए S=I के साथ जीवात्मा संसार में आती है तथा R>I की स्थिति में अध्यात्म की प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है, किन्तु R<I होने पर जन्म–मृत्यु का आवागमन होता रहता है, तथापि परमात्मा की कृपा से संस्कार नष्ट नहीं होते। यहाँ एक तथ्य और भी ध्यान देने योग्य है कि सद्गुरुदेव भी परमात्मा का ही एक रूप है, क्योंकि वह **'गुरुणामपि गुरु: कालेनावच्छेदात्'** अर्थात् महर्षि पतंजलि के अनुसार समय की सीमा के परे होने के कारण परमात्मा गुरुओं का भी गुरु है।

3. R (वैराग्य)

वैराग्य भी सूत्र का एक बहुत महत्वपूर्ण अवयव है। कारण यह है कि संसार तथा माया दोनों मन से उत्पन्न हुए हैं और उनका अस्तित्व तभी तक है जब तक उनमें मन आसक्त है यानि मन का राग–द्वेष कार्य करता है। जैसे ही राग–द्वेष के विकार का नाश होता है, मन की आसक्ति समाप्त हो जाती है, इसी को **वैराग्य** कहा जाता है। उपनिषद यह रहस्य बताते है कि –

मन : एव मनुष्याणा कारणं बन्धमोक्षयो :, विषयासक्तो निबन्धाय मोक्षाय निर्विषयं मन :।

अर्थात् मनुष्यों की माया जगत से मुक्ति अथवा उसमें बन्धन का कारण मन है। जब मन विषय–भोगों में आसक्त रहता है तो मनुष्य माया के बन्धन में फँसे रहते है और जब मन निरासक्त होकर वैराग्य प्राप्त कर लेता है तब मनुष्य माया के बन्धन से मुक्त हो जाते है और परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर लेते है। इसी कारण वैराग्य के बिना मोक्ष संभव नहीं।

परमात्मा श्रीकृष्ण ने बताया कि –

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतो सनातन:।
मन: षष्ठेन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।
शरीरं यदवाप्नोति यदुत्क्रामतीश्वर:।

ग्रहीत्वेतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।

अर्थात् जीवलोक मे परमात्मा का ही अंश जीवात्मा के रूप मे शरीर मे वास करता है, उसने ही मन तथा इन्द्रियो की प्रकृति मे से शरीर मे आकर्षित किया है। शरीर त्यागते हुए या ग्रहण करते हुए भी उसके साथ ही रहते है, जिस प्रकार एक बार वायु गन्धयुक्त पदार्थ से वायु गन्ध को अपने साथ ले जाती है। शरीर मे रहते हुए यह जीवात्मा मन को आधार बनाकर इन्द्रियों के भोगो को भोगती है। इसका परिणाम यह होता है कि–

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ता अत्याहुः मनीषिणः'

अर्थात जीवात्मा मन तथा इन्द्रियों से संयुक्त हो जाने के कारण भोक्ता बन जाता है। भोक्ता होने का दुःखपरिणाम यह होता है कि वह आनन्दस्वरूप होने पर भी दुःखी रहता है और जन्म–मृत्यु तथा जरा, व्याधि आदि दुःखो के बन्धन मे फँस जाती है। भगवान श्रीकृष्ण भी स्वीकार करते है –

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।

कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।

अर्थात मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ रूपी प्रकृति मे स्थित होकर विषयो के भ्रान्तिजन्य भोग भोगने के कारण पुरुष को योनियो मे प्रवेश कर अज्ञानवश दुःखी होना पड़ता है। इसका कारण यह है कि –

ये हि संस्पर्शजाः भोगाः दुःखयोनयः एव ते।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधाः।।

अर्थात् इन्द्रियों तथा उनके विषयो के स्पर्श से जो क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है, वह वस्तुतः दुःख रूप ही होते है, क्योंकि वह क्षणिक स्पर्शमात्र है और वासना तथा आसक्ति का जनक होने के कारण उनके परिणाम दुःखरूप है तथा जन्म मृत्यु के आवागमन के कारण है। जिस प्रकार खुजली के रोग मे खुजाने से क्षणिक सुख की अनुभूति तो होती है किन्तु रोग तथा कष्ट और अधिक बढ़ जाता है। विषय भोगों मे आसक्ति विनाश का कारण बनती है, क्योंकि –

ध्यायतो विषयान् पुंसा संगस्तेषु उपजायते।

संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधः उपजायते।।

क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।

अर्थात् जब मन मे विषय सुख को प्राप्त करने की चाह रहती है और उनका स्मरण होता है, तो उनके प्रति वासना तथा आसक्ति जन्म लेती है। आसक्ति से उसे पाने की कामना उत्पन्न होती है और जब कोई उसमे विरोध तथा विघ्न पैदा करता है तो उसके प्रति क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध से मोहान्धता और मोहान्धता से स्मृति भ्रमित होती है और स्मृति के भ्रमित होने पर बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि के नाश से जीवात्मा की अधोगति होती है यानि निकृष्ट योनियो मे जन्म होता है। इस प्रकार भोगो मे आसक्ति विनाश का कारण बनती है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आध्यात्मिक सिद्धि तब तक सम्भव नहीं जब तक आत्मा के रूप मे दृष्टा तथा मन–बुद्धि की चित्तवृत्तियो के रूप मे दृश्य की एकात्मता तथा एकरूपता समाप्त नहीं हो जाती और यह केवल अन्तिम निर्बीज समाधि अवस्था मे ही सम्भव है। किन्तु वैराग्य के बिना किसी भी समाधि मे प्रवेश असम्भव है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा

है कि –

योगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते।।
नहि असन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन:।
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मति:।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्नुमुपायत:।।

अर्थात् जिसके मन में विषय भोग के प्रति वैराग्य नहीं है तथा जिनका मन भोगैश्वर्य में आसक्त है, ऐसे साधकों की बुद्धि समाधि में प्रवेश नहीं कर सकती। वह व्यक्ति योगी नहीं हो सकता, जिसने अपने मन से कामनाओं के संकल्पों का त्याग न किया हो। जिसका मन की वृत्तियों पर संयम नहीं है, उसको योग सिद्धि सम्भव ही नहीं। मन पर विजय प्राप्त कर योग साधना में प्रयासरत पुरुष ही उचित साधनों के अभ्यास से योगी बन सकता है। चित्तवृत्तियों के नितान्त निरोध के बिना दृष्टा अपने सत्यस्वरूप में प्रकट होता ही नहीं। महर्षि पतंजलि इसे स्पष्ट करते है कि –

दृष्टा दृशिमात्रो शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य:

अर्थात् परमात्मा रूप दृष्टा केवल साक्षिमात्र है, परमशुद्ध है, फिर भी चित्त में वृत्तियाँ रहने से दृष्टा तद्‌रूप दिखाई देता है और परम वैराग्य के बिना वृत्तियों का निरोध हो ही नहीं सकता। अत किसी साधना में सफल होने के लिए विषयों में राग रूप काम का नाश करो, क्योंकि –

तस्मात् त्वं इन्द्रियाणि आदौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजाहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।

अर्थात् आध्यात्मिक साधना की सिद्धि के लिए सबसे पहले वैराग्य को अपनाकर इस पापी काम का नाश करो जिसके कारण परमात्मा का ज्ञान तथा परमात्मस्वरूप की प्राप्ति सम्भव नहीं है। मन की वृत्तियों का निरोध केवल योग साधना तथा वैराग्य धारणा करने पर ही सम्भव है। महर्षि पतंजलि भी यही मानते है कि 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध:'। अर्थात् वैराग्यपूर्ण चित्त के द्वारा चिरकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक सश्रम अभ्यास से योगसिद्धि सम्भव है, अन्यथा नहीं।

□□□

सर्वत्र ईश्वर की छवि निहारते रहना ज्ञानयोग है। निश्चल भाव से अपने को ईश्वर के हाथ सौंप देना भक्तियोग है और ईश्वर-भाव से सभी प्राणियों के कल्याण के लिए निष्काम कर्म करते रहना कर्मयोग है। यह तभी संभव है जब अन्तरात्मा के दिव्यसूत्र में बुद्धि, मन और इन्द्रियों को गूँथ दिया जाय। ईश्वर सर्वव्यापक होने के कारण समस्त प्राणियों के हृदय में सदा विराजमान रहते हैं। अत: मन के द्वारा विषयों, धन एवं प्रभुत्व की आसक्ति का मानसिक त्याग कर पूर्ण समर्पण भाव से हृदयस्थ परमात्मा का चिन्तन एवं आश्रय ग्रहण करने से शाश्वत् शान्ति सुलभ होगी।

भाव प्रसून

श्रीमती सरिता भारद्वाज
नई दिल्ली

समर्पण मैं करूँ किसका,
जो मेरा है वह सब तेरा।
तुम्हारी चीज तुमको दूँ,
ये माने मन नहीं मेरा।
जिसे अपना ही माना है,
वह तन भी है नहीं मेरा।
भर लिए रोग लख कोटिक,
बिगाड़ा तन जो था तेरा।
भर लिए काम क्रोधादिक,
जो मन माना कि वो मेरा।
अहं को भर के कस-कस के,
बिगाड़ा मन जो था तेरा।
समर्पित करते पुष्पादिक,
शान से कहते धन मेरा।
जुटाया पूरे जीवन धन,
भुलाया साथ जो तेरा।
न तन मेरा न मन मेरा,
कि सब कुछ तू ही है मेरा।
फँसी भव सिंधु में 'सरिता'
सहारा केवल है तेरा।

• • •

कब तक आखिर मानस मन्थन,
सतत् निरन्तर शाश्वत् चिन्तन।
कभी तीव्र गति कभी हो मन्थर,
कब तक आखिर मनस प्रभंजन।
श्रद्धा भावों का स्पन्दन,
मन में हो गहरा संवेदन।
गुरु चरणों में मौन निवेदन,
'सरिता' को दे दो अवलम्बन।
करो कृपा अब करुण निकेतन,
श्री चरणों का हो अवलम्बन।

योगदर्शन में कर्मवाद

– डॉ. उमादेवी जोशी –

'कर्म' शब्द के सामान्य अर्थ की चर्चा संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में उपलब्ध है। **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'।** (गीता 2/47) – यह गीता वचन कर्म करने की अनुशंसा करता है। 'कृ' धातु से मनिन् प्रत्यय निष्पन्न 'कर्म' शब्द का अर्थ – करना, व्यापार अथवा हलचल (क्रियाशीलता) है। इसी सामान्य अर्थ के अनुसार आचार्य तिलक की दृष्टि (गीतारहस्य) – में खाना, पीना, खेलना, योग करना, मनन, ध्यान, हँसना, रोना आदि सभी क्रियायें कर्म हैं। गीता (5/8) में कहा है –

पश्यंश्रृण्वन्स्पृशजिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपंश्वसन्।।

गीता के चतुर्थ अध्याय के 26 वें श्लोक में करणीय एवं अकरणीय कर्मों का भी उल्लेख हुआ है –

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।

इन कर्म और अकर्म की विवेचना के प्रसंग में कर्मवाद का प्रादुर्भाव होता है अर्थात् कर्म विषयक सिद्धान्तों का विमर्श किया जाता है। भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में 'वाद' शब्द के समावेश से सिद्धान्तों का ग्रहण होता है। जगत् की व्यवस्था के मूल में यही कर्म–सिद्धान्त कार्य कर रहा है। इसलिये भारतीय दर्शन में कर्मवाद को विशेष मान्यता मिली है। व्यक्ति जो कुछ कर्म करता है, उसका फल उसे अवश्य प्राप्त होता है। वर्तमान में अनुभूयमान विषयों के मूल में पूर्वजन्म के कर्म हैं तथा वर्तमानकालिक कर्मों के अनुसार हमारा भविष्य निर्धारित होता है–यह विचार कर्मवाद कहलाता है। भारतीय दर्शन में कर्मवाद की अवधारणा व्यक्ति को सत्कर्म करने के लिए अवसर प्रदान करती है।

यहाँ कर्मवाद की विवेचना योगदर्शनानुसार की जा रही है –

पातञ्जलि योग की दृष्टि में शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप चित्त में विद्यमान रहने वाले संस्कारों को 'वासना' कहते हैं। वासनाओं की उत्पत्ति अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश नामक क्लेशों द्वारा होती है। इन क्लेशों के विद्यमान रहने पर व्यक्ति के द्वारा काम, लोभ, मोह तथा क्रोध करने से पापस्वरूप कर्माशय उत्पन्न होता है। इन कर्माशयों के फल वर्तमान जन्म में अथवा जन्मान्तर में लभ्य होते हैं –

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

(योगसूत्र 2/12)

तीव्र प्रयत्नपूर्वक मन्त्र एवं तप द्वारा आधारित अथवा ईश्वर, देवता तथा महर्षियों की आराधना द्वारा जो कर्माशय उत्पन्न होते हैं, ऐसे पुण्यकर्माशयों का फल सद्यः प्राप्त होता है। इन्हें

दृष्टजन्मवेदनीय पुण्यकर्माशय कहते हैं। शिवपुराण के अनुसार नन्दीश्वर कुमार ने महादेव की अर्चना कर मनुष्य योनि का परित्याग कर देवत्व पद को प्राप्त किया। इसके विपरीत प्राणियों को दु:ख पहुँचाने, विश्वासघात करने, तपस्वियों के प्रति अपकार करने से शीघ्र निष्पन्न होने वाला दृष्टजन्मवेदनीय पापरूप कर्माशय कहा जाता है। महाभारत के अनुसार राजा नहुष जो इन्द्र पद पर प्रतिष्ठित थे, शिविकावहन में संलग्न ऋषियों का अपकार करने के कारण देव शरीर का परित्याग कर सर्प योनि को प्राप्त हुए। योगसूत्र भाष्यकर्ता आचार्य व्यास जी ने इन तथ्यों को इस प्रकार व्यक्त किया है -

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशय: कामलोभमोहक्रोधप्रभव:। स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतप: समाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा य: परिनिष्पन्न: स सद्य: परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति।

(योगसूत्र 2/12 पर व्यासभाष्य)

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के फल वर्तमान जन्म में अनुभव के योग्य (दृष्ट जन्मवेदनीय) होते हैं, किन्तु सहस्त्रवर्ष पर्यन्त उपभोग के योग्य जो पापरूप फल है, उनका भोग शतवर्षपरिमित आयु वाले मनुष्य शरीर में सम्भव नहीं है। ऐसे कर्म वालों के लिए ही जन्मान्तर में नरक योनि का विधान शास्त्र सम्मत है। अत: नरकवासी प्राणियों का कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय नहीं है। आचार्य व्यास स्पष्ट कहते हैं – **तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीय: कर्माशय:।** (योगसूत्र 2/12 पर व्यासभाष्य)

आचार्य विज्ञानभिक्षु को उपर्युक्त कथन पर आपत्ति है। उनकी दृष्टि में नारकीय पुरुष द्वारा साधन सामग्री के अभाव में जिस प्रकार नरक में कर्मानुष्ठान करना सम्भव नहीं है, अत: उनका कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय नहीं है, उसी प्रकार स्वर्गीय पुरुषों के द्वारा भी कर्म सम्भव न होने के कारण केवल नरकवासियों के लिए दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का निषेध क्यों किया गया है ? **'नारकिपुरुषाणां धर्माद्यनुत्पत्ते:। ननु स्वर्गिणामपि कर्म नोत्पद्यत इति कथं नारकिवचनमात्रमिति।।'** (योगसूत्र 2/12 पर योगवार्तिक)

इसका समाधान जिस प्रकार भाष्यकार आचार्य व्यास ने किया है, वह समीचीन है। उनकी दृष्टि में मनुष्य शरीरकृत स्वर्ग तथा नरक का जनक पुण्य तथा पाप रूप कर्माशय ही क्लेशमूलक तथा दृष्टजन्मवेदनीय है, किन्तु नरक का जनक जो नरक प्राप्ति के पूर्व का कर्माशय है, वह अदृष्टजन्यवेदनीय ही है, क्योंकि नरक में किसी प्रकार का कर्म सम्पादित नहीं होता है, केवल पापों के फल का भोग होता है। मनुष्यों का ही कर्म में अधिकार है और यही कर्मभूमि है। योगसूत्र भाष्य विवरण कर्ता शंकराचार्य जी स्पष्ट कहते हैं – **यन्मनुष्याणां कर्माधिकार: इयं च कर्मभूमिरिति, तत्क्षिप्रफलसिद्ध्यपेक्षम्।** तदुक्तम् – **क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा इति।** (योगसूत्र 2/12 पर विवरणभाष्य)

अत: स्पष्ट है कि पुण्य–पाप कर्मों का हेतु क्लेश है, इन क्लेशों की निवृत्ति आवश्यक है। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान के द्वारा क्लेशों का प्रभाव कम (तनुकरण) किया जाता है, तथा तत्व ज्ञान के द्वारा क्लेशों को दग्ध कर दिया जाता है, ऐसे क्षीणक्लेश युक्त ज्ञानियों को जन्मान्तर की प्राप्ति

नहीं होती है। उनके जन्मान्तर के आरम्भक जो कर्म थे, वे प्रसख्यान–अग्नि द्वारा दग्ध हो चुके रहते है, अतः ज्ञानियों के लिए भाष्यकार व्यास कहते हैं –

क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति।

(योगसूत्र 2/12 पर व्यासभाष्य)

यहाँ जिज्ञासा होती है कि क्लेश क्या है? उनका स्वरूप क्या है? इसके उत्तर स्वरूप योगसूत्रकार पंचक्लेशों का प्रतिपादन करते हैं –

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योगसूत्र 2/3)

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश – ये क्लेश हैं। अनित्य पदार्थों में नित्यत्व का भान, अशुचि में शुचिता, दुःख में सुख की प्रतीति और अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि का कारण व्यक्ति में रहने वाली अविद्या है। बुद्धि एवं पुरुष में एकात्मता की प्रीति, सुख के हेतुभूत पदार्थों में आसक्ति, दुःख देने वाले पदार्थों के प्रति द्वेष भावना तथा पूर्वजन्म की वासना से वासित होने के कारण मरण सम्बन्धी भय इन्हीं पंचक्लेशों के विद्यमान रहने के कारण होता है।

इन क्लेशों में सर्वप्रमुख अविद्या है, वही अस्मिता आदि उत्तरवर्ती क्लेशों की उत्पत्ति की भूमि है –

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। (योगसूत्र 2/4)

उपर्युक्त क्लेशों के विद्यमान रहने पर पुण्यपापरूप कर्माशय के अनुरूप जाति, आयु एवं भोग–फल होते हैं –

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। (योगसूत्र 2/13)

जाति से तात्पर्य जन्म से है। उद्भिज से मानव तक प्राणी ऐहलौकिक जाति के अन्तर्गत परिगणित्त किये जाते हैं। उद्भिज जाति में तमोगुण एवं मानव में रजोगुण का बाहुल्य होता है। पशु जाति उद्भिजसदृश अवरकोटि की है। जीवात्मा का इस शरीर के साथ यावत्काल पर्यन्त जो सम्बन्ध है, वह आयु कहा जाता है अर्थात् भोग सहित देहरूप कर्मफल की अवस्थिति के काल का नाम आयु है। अनुभूयमान सुख–दुःख भोग कहलाता है।

पुण्य–पाप का हेतुभूत कर्माशय नियत (निश्चित) तथा अनियत (अनिश्चित) फल वाला होता है। निश्चित फलों को देने वाले कर्माशय के विषय में जन्म की अवधारणा योग दर्शन में बहुशः हुई है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या एक कर्म से एक जन्म सम्भव है अथवा एक कर्म से अनेक जन्म? द्वितीय विचारणा के अनुसार क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों को निष्पादित करते हैं अथवा अनेक कर्मों से एक जन्म होता है?

इन चार प्रकार के विकल्पों के उपस्थित होने पर प्रथम ग्राह्य नहीं है। एक कर्म से यदि आगामी जन्म निष्पन्न हो तो पूर्व में सम्पादित असंख्य कर्मों की बिना फल के समाप्ति माननी पड़ेगी, जो कर्मसिद्धि की दृष्टि से असंगत है। द्वितीय अवधारणा इससे भी अधिक दूषित है, क्योंकि एक ही कर्म द्वारा अनेक जन्मों के निष्पन्न होने पर शेष कर्मों को फल देने का कभी अवसर प्राप्त नहीं हो सकेगा। तृतीय विकल्प की दृष्टि से विचार करें तो अनेक कर्मों से अनेक जन्म युगपद्–सम्भाव्य नहीं हो सकते

है। अतः दोषयुक्त होने के कारण तीनों मत अस्वीकार्य है।

जन्म विषयक चतुर्थ सिद्धान्त ही योग दर्शन में मान्य है। इसके अनुसार जन्म से लेकर मरणपर्यन्त किये गये सुख–दुःख जो हेतुभूत अनेक विचित्र कर्म है, वे सभी पुण्य एवं पापरूप दो समूहों में विभक्त हो जाते है और मरणकाल के समय जिसका प्राधान्य होता है, वे मरणधर्म का सम्पादन करते है और उन्ही कर्मों के अनुसार भावी जन्म, आयु एवं सुख–दुःख की प्राप्ति होती है। एक जन्म का कारक होने से यह कर्म सिद्धान्त '**एकभविक कर्माशयवाद**' कहलाता है। भाष्यकार कहते है–

तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य सम्मूर्छित एकमेव जन्म करोति। तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति।। (योगसूत्र 2/13 पर व्यासभाष्य)

अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक वाले कर्माशय की तीन प्रकार की स्थिति होती है। प्रथम किये गये शुभ कर्मों के फलस्वरूप अशुभ कर्म नष्ट हो जाते है। दूसरी गति का उल्लेख करते हुए भाष्यकार व्यास कहते है कि पुण्य कर्म के साथ मिश्रित पापरूप कर्म मध्य में स्वल्प दुःख अवश्य देता है, परन्तु उसका प्रभाव अधिक नहीं होता है। इसे कर्मों का '**अवापगमन**' कहते हैं। तीसरे प्रकार की गति यह है, जहां अवश्य फल देने वाले बलवान कर्मों से अभिभूत होकर दूसरे कर्म बीजरूप में पड़े रहते है और कालान्तर मे उद्बोधक सामग्री को प्राप्त कर उद्बुद्ध होकर फल देते है। इन कर्माशयों के फलायमान होने मे देश, काल और निमित्त के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार लोक में जो अप्रत्याशित घटनायें व्यक्ति के साथ घटित होती दृष्टिगोचर होती है, उनमें व्यक्ति के कर्म निहित है। इन विचित्रताओं की दृष्टि से भाष्यकार स्पष्ट कहते हैं – '**कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति।।**' (योगसूत्र 2/13 पर व्यासभाष्य)

इस प्रकार जन्म का हेतु पुण्य पाप कर्म है, यह कर्म राग–द्वेष जन्य है। योगियों के रागद्वेष नष्ट है, इसी लिए उनका जन्म नहीं होता है, वे मुक्त कहलाते है–

तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिः। नातः पुण्यपापाभिसम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वाद् योगिन इति। (योगसूत्र 4/6 पर व्यासभाष्य)

किन्तु योगियों से भिन्न सामान्य मनुष्यों में शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्लकृष्ण भेद से तीन प्रकार के कर्म होते हैं

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। (योगसूत्र 4/7)

इन तीन प्रकार के कर्मों द्वारा उनके फलों के अनुसार वासनाओं का आविर्भाव होता है अर्थात् जो कर्म जिस जाति, आयुष्य तथा भोगरूप फल का आरम्भक होता है, वह कर्म उस जात्यादि फल के अनुकूल ही वासना का अभिव्यंजक होता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि वासनाओं से ही भोग सम्भव है, तो सर्वप्रथम जन्म के समय वासना के अभाव में भोग कैसे हुआ? उत्तर है कि अनेक जन्मों की वासनायें अनादि काल से चित्त में विद्यमान रहती है और पूर्व वासना से वासित होकर वर्तमान जन्म में उसी के अनुरूप जीव आचरण करता है अन्यथा मनुष्य जन्म के पश्चात् जिसे दिव्य अथवा नारकीय योनि प्राप्त होती है, उसकी दिव्य अथवा नारक भोग में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये एवं मार्जार योनि प्राप्त होने पर मूषक–भक्षण में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, किन्तु होती अवश्य है। अतः यह सिद्ध है

कि फल के अनुसार ही वासना की अभिव्यक्ति होती है–

यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासना: कर्मविपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्ति:। (योगसूत्र 4/8 पर व्यासभाष्य)

ये वासनायें जाति, देश और काल के व्यवधान से युक्त होने पर भी स्मृति और संस्कार के एक होने के कारण पूर्व वासना के अनुरूप जीव जिस योनि को प्राप्त होता है, तदनुसार आचरण करता है और ज्ञान प्राप्ति के पूर्व तक बारबार कर्माशय के अनुसार श्वा, मनुष्य, तिर्यक, उदभिज योनि को प्राप्त होता रहता है। ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध कर्मों के भोग हेतु शरीर की स्थिति बनी रहती है। फलविपाकारम्भी कर्म शरीर के आरम्भक होते है तथा क्रिया की परिसमाप्ति पर्यन्त होने से क्रियमाण कर्म कहे जाते है। ये कर्म भी संचित होते रहते है। पूर्व जन्मों के संचित कर्म शरीर के आरम्भक होते है, परन्तु प्रसख्यान–तत्वाग्नि से जिन क्लेश कर्मो की निवृत्ति हो चुकी है, ऐसे क्षीण क्लेश पुन: भावी जन्म के कारक नही होते है।

□□□

सद्गुरु भक्ति और ज्ञानसागर

निर्मला चन्देल, उदयपुर (राज.)

सद्गुरु के सद्ज्ञान ने
सद् मार्गी, सद्ज्ञानी बना दिया।
जीवन ज्योति प्रज्ज्वलित कर
प्रकाश युक्त करा दिया।
गुरुवर की मधुर वाणी ने
गीता ज्ञान सिखा दिया।
जीवन दर्पण में प्रभु भक्ति का
दर्शन करा दिया।
आकाश, चन्द्र और सूर्य रश्मि सा
मानस बना दिया।
विस्मृत मार्ग, सुस्मृति कर
ज्ञान का दीप जला दिया।
भाग्यहीन को स्वयं संवध कर
भाग्यवान बना दिया।
सिद्धयोग की ज्ञान गुफा के
गुरुवर ने
ज्ञान गंगा के सरोवर से
संपूर्ण बना दिया।
जीवन 'ईश' का उपहार है
स्वीकार कर जाओ उसे
गुरुवर ज्ञान के सागर है
तन्मय हो जाओ उसमें,
तन्मय हो जाओ उसमें।

□□□

योग साधना शिविर कानपुर

– केशवदेव उपाध्याय, वाराणसी –

कानपुर का योग साधना शिविर आई0 आई0 टी में दिनांक बारह अक्टूबर से पन्द्रह अक्टूबर दो हजार छः को अतीव आनन्द एवं उत्साह के साथ मनाया गया। कार्यक्रम का प्रारम्भ प्रत्येक दिन प्रातः पाँच बजे योगेश्वर द्वय की मंगला आरती से होता था। मंगला आरती के बाद जीवन तत्व साधन प्रवचन पण्डाल में सामूहिक कराया जाता था। जीवन तत्व साधन कानपुर मण्डल के गुरुभाई श्री शुक्ला जी एवं श्री आर0 सी0 ठाकुर की देख–रेख में होता था, तथा इस साधक की प्रत्येक क्रिया से होने वाले लाभ पर परम आदरणीय गुरुभाई आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा, या श्री जनार्दन पाण्डेय जी या श्री विजय पुरी भाई जी द्वारा प्रकाश डाला जाता था। उसके बाद नये आगन्तुक योग प्रेमियों को नेती क्रिया सिखाया जाता था। नेती क्रिया करने के बाद नाक से दूध, शुद्ध घी पिलाने की कला बतलायी जाती थी। गोरस एवं घी की व्यवस्था व्यवस्थापक मण्डल द्वारा निःशुल्क की गयी थी। उपरोक्त साधन करते–कराते प्रातःकाल आठ बज जाता था। उसके बाद सामूहिक आरती आराध्यदेव के अन्तरंग शिष्य एवं हमारे आदरणीय गुरुभाई श्री भुवनेन्द्र झा जी द्वारा की जाती थी। आरती के बाद श्री भगवत गीता का पाठ सामूहिक किया जाता था। श्री गीता पाठ के बाद आदरणीय आचार्य शर्मा जी द्वारा उसका सरल एवं सुबोध भाषा में उपस्थित जिज्ञासुओं को भावार्थ उदाहरण के साथ समझाया जाता था। यह प्रसंग साढ़े दस बजे तक चलता था। साढ़े दस से ग्यारह बजे तक अल्पाहार का समय था। तत्पश्चात् श्री गुरुदेव भगवान के अनुभवी, ज्ञानी – ध्यानी साधकों द्वारा सिद्धयोग, श्री सद्‌गुरु तत्व की अलौकिकता, विलक्षणता एवं महानता पर प्रकाश डालकर उसे सरल भाषा में समझाया गया। श्री सिद्धयोग का मार्ग, योग साधना के अन्य मार्गों से अलाहदा एवं सरल तथा सुबोध क्यों है? यह रहस्य समझाया गया। श्री सिद्धयोग साधक को गुरुदेव की कृपा से ही योग के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचा देता है। श्री सद्‌गुरुदेव भगवान से दीक्षित शिष्य, यम–नियम का पालन करते हुए सिर्फ सद्‌गुरुदेव भगवान की आज्ञाओं का पालन करने का पुरजोर प्रयत्न करता रहे, तो योग में वह अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेगा, ऐसा आचार्यों का मत रहा।

मंचासीन आचार्यगणों एवं योगी साधकों द्वारा श्री सद्‌गुरु भगवान की अनेक लौकिक एवं पारलौकिक विलक्षण कृपाओं के चरित्र भी इसी योग प्रवचन में साधकों को सुनने को मिले, जो अनायास ही श्री सिद्धयोग एवं श्री सद्‌गुरुदेव भगवान के चरण कमलों में अगाध श्रद्धा के भाव जगा रहे थे। इस यौगिक प्रवचन का समय अपराह्न एक बजे तक रहता था। एक बजे से तीन बजे तक भोजन एवं विश्राम का समय था। ठीक तीन बजे महिला संकीर्तन (भजनाराधना) का कार्यक्रम आरम्भ होता था जो सायं साढ़े पाँच बजे तक चलता था। अन्य मण्डलों के अलावा झाँसी मण्डल से आये प्रभुश्री रामलाल संगीत महाविद्यालय के बालक–बालिकाओं द्वारा प्रस्तुत योगमय भजन साधक एवं जिज्ञासुओं को बलात् अपनी तरफ आकर्षित कर लेते थे। यह कार्य साढ़े पाँच बजे तक चलता था। उसके बाद सात बजे सायं तक नित्य क्रिया एवं अन्य विविध कार्यों के लिए अवकाश रहता था। सायं सात बजे से आठ बजे तक भजन संकीर्तन होता था एवं उसके बाद यौगिक प्रवचनों का कार्यक्रम रहता था। प्रवचन समाप्ति के बाद सामूहिक आरती होती थी एवं उसके बाद प्रसाद वितरण का कार्यक्रम होता था। प्रसाद वितरण श्री सद्‌गुरुदेव जी महाराज के अनन्य प्रिय शिष्य आचार्य श्री

चन्द्रहास शर्मा जी एवं आदरणीय श्री भुवनेन्द्र झा द्वारा किया जाता रहा।

सामूहिक आरती के बाद भोजन का समय था एवं उसके बाद रात्रि विश्राम का समय होता था। यही कार्यक्रम दिनांक 11 अक्टूबर की सायंकाल से 16 अक्टूबर के प्रातःकाल तक चलता रहा। इस यौगिक साधना शिविर मे साधकों की अनेक यौगिक मुद्रायें स्वयं लगते देखा गया। कुण्डली जागरण के समय होने वाली विलक्षण क्रियायें भी इस साधना शिविर में अनेक साधकों को होती रही। सामूहिक आरती के समय प्रातः एवं सायं अनेक जिज्ञासुओं को ध्यान लग जाता था, जो कई-कई घण्टों बाद अपनी सहजावस्था में आते थे। आदरणीय आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा जी द्वारा योग जिज्ञासू साधकों को ध्यान लगाने की विधि का प्रशिक्षण दिया गया। यह ध्यान प्रशिक्षण प्रातः एवं सायं दोनों समय दिया जाता था, जिसका कुछ साधकों को तत्काल लाभ मिला। युक्ति से योग करने की विधि एवं विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगों के लिए योग क्रियायें साधकों को बतलाई एवं समझाई गयी। इस योग साधना शिविर का स्थायी प्रभाव साधकों एवं उपस्थित योग जिज्ञासुओं पर अवश्य ही पड़ा होगा, ऐसी आशा है। यह योग साधना शिविर नये आगन्तुक जिज्ञासुओं से लेकर अच्छे गम्भीर ध्यानपरायण योग शिष्यों के लिए शिक्षाप्रद एवं आध्यात्मिक आनन्द प्रदाता रहा।

योग की गम्भीर साधनाओं को सरल एवं सुगम भाषा के शब्दों में समझाने वालों में आदरणीय आचार्य जी, श्री जनार्दन पाण्डे जी, काल्पी के पूर्व प्रधानाचार्य जी आदि अनुभवी लोग मुख्य है।

इस योग साधना शिविर मे कानपुर मण्डल के शहर एवं देहात क्षेत्र के गुरुभाई-बहिनों के अलावा उत्तर प्रदेश के एटा, इटावा, सहारनपुर, मुरादाबाद, कन्नौज, फर्रुखाबाद, बरेली, गाजियाबाद, आगरा, फिरोजाबाद, हाथरस, लखनऊ, फैजाबाद, वाराणसी, मिर्जापुर, इलाहाबाद, झाँसी, हमीरपुर, बाँदा और बहराइच आदि जनपदों के गुरुभाई-बहिनों, जिज्ञासुओं और आध्यात्म प्रेमियों ने भाग लिया।

हरियाणा और पंजाब प्रान्त के पानीपत, समालखा, भिवानी और सोनीपत, हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा, मण्डी और धर्मशाला के अलावा दिल्ली, राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात आदि प्रान्तों के आध्यात्म प्रेमियों ने भाग लेकर अपना लौकिक एवं परलौकिक पथ पवित्र किया।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक परमयोगेश्वर बाबा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के पारिवारिक जनों की इस शिविर में उपस्थिति, नवागन्तुक साधकों के साथ ही सभी प्रेमी योग साधकों की श्रद्धा बढ़ाने मे उत्प्रेरक का कार्य कर रही थी। योगीराज देवरहा बाबा के परमप्रिय शिष्य श्री कृपाशंकर शुक्ल जी ने इस योग साधना शिविर में पूरे समय उपस्थित रहकर साधना शिविर के साधकों को लाभ दिया एवं उनसे आध्यात्मिक लाभ प्राप्त किया।

अपने आराध्य, योगेश्वरद्वय के युगल चरण कमलों में साष्टांग प्रणाम अर्पित करते हुए यही प्रार्थना करता हूँ कि कानपुर मण्डल के गुरुभाई-बहिनों को यह साधना शिविर चलाते रहने की श्रद्धा एवं शक्ति प्रदान करने की कृपा की जाय। अन्त में निम्न शिक्षा के साथ, जो हम सबके लिए समान उपयोगी है, यह प्रसंग समाप्त-

मैं और मेरा त्याग दें, मत लेश भी अभिमान कर।
सबका नियन्ता मानकर, गुरुदेव का ही ध्यान कर।।
मत मान कर्ता आप को, कर्त्तार गुरुवर जान लें।
तो खुल जायेगा योग द्वार, तेरे लिए सच मान लें।।

□□□

अचल बुद्धि का ठहराव ही योग है

– वेदव्रत द्विवेदी, उमापुर –

परम करुणा निकेतन सद्गुरु भगवान अनन्त विभूषित योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की कृपा लीलायें अपने सद् शिष्य भक्तों पर अनवरत देखने को मिलती है। आपका अवनि मण्डल पर अवतरण इसी लिए हुआ था कि अज्ञान से आच्छादित जीव कई जन्मों से अज्ञानता के दायरे में पड़ा हुआ था। उसे उद्बोधन की आवश्यकता थी अर्थात् प्रकाश की महती जरूरत थी। प्रकाश देने वाला कोई नहीं। जहाँ देखो अन्धकार ही अन्धकार दिखाई पड़ रहा था। आगे का रास्ता भयावह एवं दुस्तर मार्ग कठिन। मंजिल काफी दूर। इसी परिपेक्ष्य में भगवान भास्कर की तरह उजाला करने के लिए सद्गुरु सच्चे पथ प्रदर्शक, नियामक के रुप में अवतरित हुए। अपने किये कर्मों के आधार पर, प्रत्येक जीव को गुरु की प्राप्ति तो हो जाती है, किन्तु सच्चे अर्थों में विरले ही मानव सद्गुरुदेव भगवान को प्राप्त कर पाते हैं।

मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि प्रत्येक देश में प्रत्येक मानव अपने पूर्व कर्मानुसार गुरुदेव को प्राप्त कर दीक्षा तो लेता है किन्तु, लेने और देने वाले सद्गुरु और सद् शिष्य की कसौटी में खरा उतरने वाला कोई दिखलाई ही नहीं पड़ता। इसका प्रमुख कारण यह है कि दोनों का भाव अब भी वही है जो पहले था, पहले कई जन्म–जन्मान्तरों से भटकते हुए मानव की जन्म योनियाँ तो मिल गयी, किन्तु उद्देश्य विहीन होने के कारण वैष्णवी माया जन्म मिलते ही लग गयी। क्योंकि पिछले जन्मों में कोई तपस्या, साधना सत्संग तो किया नहीं था अब अचानक इस जन्म में कहीं से कुछ अधकचरी बातें सुनकर समाज में रहते हुए देखादेखी पड़ोसी और नातेरिश्तेदार के यहाँ जाते हुए जो कह दिया वही मान लिया।

अब तो बस मन का भूत सवार हो गया और जाकर ऐरे–गैरे नत्थू–खैरे के यहाँ दीक्षा की भीख माँगने लगे। अगर पैसे वाले हैं तो आपके मन में पहली आकांक्षा यही रहती है कि गुरु महाराज के पास कितनी गाड़ियाँ है, कहाँ–कहाँ पर उनके आश्रम है और महाराज का कार्यक्रम (टीवी) दूरदर्शन के चैनलों पर आता है कि नहीं इत्यादि। अनाप–शनाप की बातें सोचते–सोचते ठगे जाते हैं। कान फुँकवा लेने के बाद बड़े रुतबेबाजी से दूसरों को ज्ञान की शिक्षा देने लगते हैं। प्रायः देखने में आता है कि जहाँ बेवकूफों की जमात लगी वहाँ वाणी पर संयम नाम की चीज ही देखने को नहीं मिलती, गपोड़ियों का जमावड़ा लग जाता है। इस तरह मुझे देखने व सुनने का लौकिक व्यवहार असभ्य समाज में खूब दिखायी पड़ता है। जो जिस सोच का गुलाम है, वही उसकी जिन्दगी बन चुकी है।

कहने में हँसी आती है कि कितने ही ऐसे लोग है जिन्हें हम समाज का आइना कहते हैं, वे लोग

बेवकूफों के सरदार की तरह अपनी तथाकथित अहम भूमिका अदा करते हैं। एक सज्जन से हमारी मुलाकात पन्द्रह मिनट के लिए हो गयी। वह बताने लगे कि हमारे पिताजी के गुरु पैसा भी उधारी में देते हैं। कहते हैं 'बच्चा पैसे की आवश्यकता हो तो और ले जाना और ब्याज अगली बार सत्संग में दे जाना।'

लोगों का मन दूसरों की राह पर बैसाखियों के सहारे चलने का अभ्यासी है। मन तो मेरा है, मन पर जो असवारी दूसरे की है। मन व्याकुल है, व्यथित है और मानसिक रूप से रोगी है। बहकावे में आने वाला है, चोर है, मन निकम्मा है, मन हमेशा निश्चित नहीं रहता। वह डाँवाडोल रहता है। तब तक का बिगड़ा मन मोटा, आलसी, कामचोर, निकम्मा, पक्का ठग, दूसरों की निन्दा, धनवानों की चापलूसी कर, झूठ बोलकर, दो जून की रोटी खाने के लिए कुत्ते की तरह दरवाजे–दरवाजे पूँछ हिलाता रहता है। ऐसे निकम्मे, दम्भी को भला क्या खाक योग–निधि मिल पायेगी? कदापि नहीं। बदचालचलन में या फिर वेदपाठी की जमात में अपने को जो चाहे सो समझ ले, लेकिन है पक्का धूर्त। ऐसे दुर्गुणी और कायर व्यक्ति से भगवान ही रक्षा करे। उसका पड़ोस बुरा, सोहबत बुरी, उसका दर्शन बुरा वह जीते–जी स्वयं नर्क में है, जो दूसरों को नर्क में डाल रहा है। अब आइये, असली तत्व पर जिसकी खोज के लिए ही मेरा जन्म हुआ है, वह तत्व क्या है?

वह परम तत्व ही सद्गुरु तत्व है। वह परम पुरुष अचिंत्य, शाश्वत, निर्विकार, अखण्ड मण्डलाकार में व्याप्त तेज से परिपूरित है। जो अनेकों जन्मों से सिद्ध है, और आने वाले करोड़ों कल्पों तक वह जैसा है वैसा ही रहेगा। – 'अनेक जन्म सिद्ध संसिद्ध'।

कल्पतरु, कामधेनु, कुबेर, ऋद्धि–सिद्धि के दाता और महायोग के प्रदाता तथा मोक्ष के दाता और दूसरा कोई नहीं अपितु जो साक्षात्कार करने के बाद खुद ही वैसा हो गया है, परन्तु गोपनीय पराविद्या के अधिष्ठाता स्वयं है, वह खुद स्वयम्भू है, सच्चिदानन्द जो सभी प्राणियों, जीवधारियों का बादशाह है, चराचर अगम, जड़–चेतन में व्याप्त है उस 'परम तत्व' को पाने के लिए बुद्धि कैसी हो? भगवान योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन को महामन्त्र का उपदेश कर रहे हैं। वही मन्त्र आज भी प्रासंगिक एवं उपयुक्त है–

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।

(गीता 2/53)

अर्थात् भाँति–भाँति के वचनों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मा में अचल और स्थिर ठहर जायेगी, तब तू योग को प्राप्त हो जायेगा।

अतः जहाँ पर बुद्धि अचल और चित्त बिल्कुल शान्त, सही को बिल्कुल पकड़ ले, गलत की अनुभूति न हो, वही सद्बुद्धि मार्ग का दर्शन कर योग की मंजिल तक पहुँचा देती है। जितना–जितना ठहराव आता जायेगा उतना–उतना ही गाढ़ा रंग से मन रंगता हुआ आत्मप्रसन्नता की ओर बढ़ता

चला जायेगा और योग का वास्तविक अर्थ भी यही है। अगर ऐसा जीवन में अनुभव नहीं हुआ तो समझो रंग नहीं चढ़ा। काली कमली काली ही काली रह गयी।

योग में प्रवेश केवल दो प्रकार से ही मिल सकता है। पहला अभ्यास और दूसरा वैराग्य। अभ्यास वह साधना है जिसके बार–बार करने से वह साधना ही परम सद्गुरु हो जाया करता है। इसी लिए बुद्धिमानी इसी में है, जो भी थोड़ा समय मिला है उस मालिक से 'दीदार' कर ले और आने का भी यही प्रयोजन है। लेकिन हर समय हर क्षण अपने गुरुदेव भगवान का स्मरण बना रहे, क्योंकि यदि ऐसा नहीं होगा तो अभिमान आगे आकर छाया खड़ी कर देगा, फिर बड़ी मुश्किल से जो भी कमाई की होगी वह कुछ ही पल में लुट जायेगी।

साँई का घर दूर है, जैसे पेड़ खजूर।

चढ़े तो खाये प्रेम रस, गिरे तो चकनाचूर।।

गुरु बनाने में जितनी तत्परता दिखायी पड़ती है उतनी तत्परता यदि अपने गुरुदेव की वाणी पर विश्वास कर साधना में साधनारत होकर योग का विद्यार्थी बन जाये तो निश्चय ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

इसी लिए, खूब आत्म मन्थन के बाद दीक्षा लेनी चाहिये। दीक्षा लेने के बाद भी यदि कोई ऐसा कार्य कर दिया जिससे उस परम पिता को क्षोभ हो तो फिर आपमें और निगुरे में क्या फर्क रहा? इससे तो अच्छा वही है जिसने गुरु किया ही नहीं। पुण्य कमाना अच्छी बात है लेकिन यदि एक ही पाप कर दिया तो वह परमपिता परमेश्वर की अदालत में सिफारिश करने वाला कोई सामर्थ्यवान नहीं है जो तुम्हारे गुनाहों की सजा माफ करा दे।

सद्गुरु की अदालत सर्वोपरि है। वहाँ से वर या श्राप जो भी मिलता है किसी भी ब्रह्माण्ड में कोई देवी या देवता यहाँ तक कि विष्णु, शंकर, ब्रह्मादि में भी ताकत नहीं है, उसे मेटने की!

इसीलिए प्रत्येक कार्य बुद्धि पूर्वक ज्ञान पूर्वक विवेक से करने की आदत डालनी चाहिए। यदि नहीं समझ आ रहा है तो मूक प्रार्थना, उनके चरणों में करो वे कृपालु हैं, अंतर्यामी प्रभु आपके कार्यों को सही दिशा निर्देशन में कार्य करने की प्रेरणा देते रहेंगे।

□□□

जिसने इन्द्रिय के वश में रहकर केवल कुटुम्ब के भरण पोषण में ही अपना जीवन बिता दिया है, वह अन्त में प्राप्त होने वाली महान् पीड़ा से नष्टबुद्धि होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

जीवन में स्वरोदय की महत्ता

आर. पी. अग्निहोत्री

स्वरोदय ज्ञान वास्तव में एक गूढ़ विषय है। इसी से ज्योतिषशास्त्र का प्रणयन हुआ और इसी आधार पर शुभ और अशुभ कार्यों का समाधान किया गया है। स्वरोदय का ज्ञान बड़ा ही सूक्ष्म ज्ञान है। आज के युग में इसकी साधना बड़ी ही गूढ़ और गहन है। स्वरोदय का ज्ञान केवल योग कर्मियों तक ही सीमित रहने के कारण इसका प्रचार साधारण गृहस्थों तक नहीं हो सका और यही कारण है कि आज स्वरोदय के ज्ञाताओं का पूर्ण अभाव–सा हो गया है। इसके इतिहास का भी कुछ पता नहीं कि कब और कैसे इसका विकास हुआ। शिव–पार्वती के संवाद के रूप में ही इस गूढ़ तत्व का संकेत मिलता है।

स्वरज्ञान एक ऐसा देवज्ञान है कि जिसके प्राप्त हो जाने पर जीवन की बहुत सी समस्यायें अपने आप सुलझ जाती हैं। इसकी साधना का फल कभी असत्य नहीं होता, किन्तु बिना साधना के यह सुलभ भी नहीं है। सबसे पहले शरीर साधना और उसके पश्चात मन–साधना का विषय आता है। शरीर साधना उतनी क्लिष्ट नहीं है जितनी मन–साधना। मन को एकाग्र करने के सम्बन्ध में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से 'वायोरिव सुदुष्करम' वाक्य का प्रयोग किया है। वास्तव में बात है भी सत्य, किन्तु स्वर–साधना से मन–साधना बहुत अंशों में सफल हो जाती है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है –

गुह्याद् गुह्यतरं सारमुपकारप्रकाशनम्।
इदं स्वरोदयं ज्ञानं ज्ञानानां मस्तके मणिः॥

(शिवस्वरोदय)

अर्थात् गुप्त से गुप्त तत्व एवं उपकार को प्रकट करने वाला यह स्वरोदय ज्ञान सब ज्ञानों में मस्तक की मणि के समान श्रेष्ठ है। आगे भी कहा गया है –

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं ज्ञानं सुबोधं सत्यप्रत्ययम्।
आश्चर्यं नास्तिके लोके आधारं त्वास्तिके जने॥

(शिवस्वरोदय)

अर्थात् यह स्वरोदय ज्ञान सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है, फिर भी बोधगम्य और सत्य का अनुभव कराने वाला है। यह नास्तिकों के लिए आश्चर्यजनक और आस्तिकों के लिए आधार है।

ये भगवान शंकर जी के वाक्य हैं जो पार्वती जी के प्रति कहे गये हैं। भगवान शंकर जी ने स्वरोदय ज्ञान के जिज्ञासुओं के प्रति कहा है कि स्वरोदय ज्ञान का शिक्षार्थी शान्त, शुद्ध, सदाचारी, गुरुभक्त, दृढ़चित्त और कृतज्ञ हो। संसार में स्वर ही प्रधान है। क्या वेद, क्या शास्त्र – सभी स्वर प्रधान हैं। कहा गया है –

स्वरज्ञानात्परं गुह्यं स्वरज्ञाना[illegible]।
स्वरज्ञानात्परं ज्ञानं न वा दृष्टं न वा श्रुतम्॥

(शिवस्वरोदय)

अर्थात् स्वरज्ञान से उत्तम अन्य दूसरी गोपनीय वस्तु नहीं है। स्वरज्ञान से उत्तम कोई धन नहीं और न स्वरज्ञान से परे दूसरा कोई ज्ञान ही देखने अथवा सुनने में आया है।

इसी स्वर बल से शत्रु का नाश होता है, लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तथा कीर्ति और उत्तम सुख भी प्राप्त होता है। इतना ही नहीं स्वर बल से संतान की प्राप्ति होती है, देवता सिद्ध होते हैं तथा संसार की सभी दुर्लभ वस्तुओं की प्राप्ति होती है। स्वरोदय–ज्ञान अत्यन्त गोपनीय भी है। यह केवल मन बुद्धि और वाणी का ही विषय है। इसके लिए तिथिवार–ग्रह–नक्षत्र आदि कोई भी अवरोधक नहीं है। यह तो हुआ स्वरज्ञान का संक्षिप्त महात्म्य।

इड़ा (चन्द्र नाड़ी), **पिंगला** (सूर्य नाड़ी) और **सुषुम्ना** (शिव नाड़ी) का प्रवाह सर्वविदित है। यहाँ पर हम संक्षेप में इन नाड़ियों के प्रवाह काल में किये जाने वाले कार्यों का उल्लेख करेंगे अर्थात् इन नाड़ियों के स्वर प्रवाह में कौन से कार्य सिद्धिदायक होते हैं? स्वभावतः इन नाड़ियों का प्रवाह शरीर में क्रमानुसार सर्वदा होता रहता है। प्रवाह की परीक्षा के अनन्तर कार्यारम्भ सिद्धिदायक होता है। साथ ही आवश्यकतानुसार स्वर–प्रवाह बदले भी जा सकते हैं।

यदि प्रातःकाल की चार घड़ी पहले से स्वरों का उदय विपरीत हो अर्थात् चन्द्र स्वर के स्थान पर सूर्य स्वर चलता हो अथवा सूर्य स्वर के स्थान पर चन्द्र स्वर का प्रवाह हो तो प्रथम घड़ी की यह विपरीतता मन में उद्वेग पैदा करती है, दूसरी घड़ी की विपरीतता धन–व्यय की सूचक है, इसी तरह तीसरी घड़ी की विपरीतता यात्रा की परिचायक और चौथी घड़ी की इष्ट–पदार्थ के विनाश का संकेत करती है।

इसी प्रकार सूर्योदय की चार घड़ियों तक अर्थात् सूर्योदय से प्रथम घड़ी में यह स्वर की विपरीतता सम्पत्ति का नाश करती है, दूसरी घड़ी में सम्पूर्ण कामनाओं का विनाश करती है, तीसरी घड़ी में रोग अथवा दुःख की सूचना देती है तथा चौथी घड़ी में मृत्यु का अवश्यंभावी संकेत करती है। इस तरह स्वर की परीक्षा हो जाने के अनन्तर स्वाभाविक स्वर परिवर्तित किये जा सकते हैं और अनर्थों से अपनी रक्षा की जा सकती है। स्वरोदय का ज्ञानी यदि स्वरोदय की परीक्षा यथार्थ रूप से न कर सका तो वह अवश्य ही स्वर की सांकेतिक परिस्थितियों का भोक्ता बन जाता है। आठ दिनों तक स्वर की यह विपरीतता अनिष्टकारिणी होती है। प्रातः (सूर्योदय के आध घंटा पहले से सूर्योदय हो जाने के बाद आध घंटा तक), मध्याह्न (बारह बजे के आध घंटा पहले से आध घंटा बाद तक) यदि नैमित्तिक रूप से चन्द्र स्वर का प्रवाह हो तो नित्य ही कामना की सिद्धि और तय लाभ होता है और अगर सूर्य–स्वर का प्रवाह हुआ तो वह अनिष्टकारी होता है।

शैया त्याग से पहले ही स्वर परीक्षा करना आवश्यक है, क्योंकि शैया त्याग के पश्चात् दैनिक जीवन का प्रारम्भ होता है। यदि स्वर की विपरीतता हुई तो सारा दिन उलझनों में व्यतीत होता है। अनुकूल स्वर हो जाने पर ही शैया त्याग करनी चाहिये। चन्द्र स्वर में शैया त्याग करना शुभदायक होता है। यदि शैया त्याग के समय सूर्य स्वर चलता हो तो वह चन्द्र स्वर में इस प्रकार बदला जा सकता है कि सूर्य नाड़ी को दबाने के लिए दाहिने करवट शान्ति से लेट जाना चाहिये। कुछ ही क्षणों में सूर्य स्वर दबकर चन्द्र स्वर बहने लगेगा। इसी प्रकार चन्द्र स्वर दबाने के लिए बायें करवट लेटने से चन्द्र स्वर बहने लगता है। शिव स्वर की साधना के लिए दोनों हाथ ढीले करके अगल–बगल डाल देना चाहिये और नेत्रों से दोनों भौंहों के बीच देखना चाहिये। इस तरह शिव स्वर का प्रवाह अबाध गति

से चलने लगता है किन्तु यदि शरीर का भार किसी ओर झुका रहेगा तो शुद्ध शिव स्वर न चल सकेगा और इस तरह शिव स्वर चन्द्र या सूर्य स्वर से मिश्रित स्वर हो जायेगा। यह मिश्रित स्वर निरर्थक होता है। साधारणतः यदि स्वर का परिवर्तन नहीं किया गया अथवा करने पर भी स्वर परिवर्तन नहीं हुआ जैसा कि कभी–कभी जुकाम की अवस्था में हो भी जाता है तो सोकर उठते ही जिस ओर का स्वर चलता हो उसी ओर की हथेली से अपने मुख को स्पर्श करने से और उसी ओर के पाँव से भूमि छूने से सदा कल्याण होता है, अनिष्टों का शमन होता है।

कभी–कभी चन्द्र स्वर या सूर्य स्वर के साथ शिव स्वर भी चलता रहता है। इसमें चलने वाला चन्द्र या सूर्य स्वर ही प्रधान होता है और स्वर के अनुकूल पैर आगे बढ़ाकर चलने या यात्रा करने में सिद्धि प्राप्त होती है, साथ ही चन्द्र स्वर में सम पैर आगे बढ़ाना चाहिये और सूर्य स्वर में विषम पैर की प्रगति से आगे चलना चाहिये। सम का अर्थ है दो, चार आदि और विषम का अर्थ है एक, तीन इत्यादि। सम स्वर में दो बार बायाँ पाँव आगे रखकर तब दायाँ पाँव उठाना चाहिये और विषम स्वर में पहले दायाँ पाँव उठाकर तब बायाँ पाँव आगे रखना चाहिये। इस तरह यात्रा की शुरुआत सम और विषम पाँवों से हो जाती है। ऐसा करने से सर्वदा कार्य सिद्धि होती है और शत्रुओं का पराभव होता है।

जिस किसी भी व्यक्ति या अधिकारी के पास अपना कुछ काम या स्वार्थ हो, उसी ओर स्थित होकर (चाहे खड़े होकर या बैठकर) बात करनी चाहिये, जिस ओर का अपना स्वर चलता हो। ऐसा करने से कभी भी असफलता नहीं होती।

स्वर, प्रवाह के अनुसार दो प्रकार का होता है। एक तो पूर्ण स्वर होता है। दूसरा रिक्त स्वर होता है। पूर्ण स्वर पर आरम्भ किया गया कोई भी कार्य निर्विघ्नता के साथ पूर्ण होता है। किंतु रिक्त स्वर में प्रारम्भ किया गया काम कभी पूरा नहीं होता और उसमें एक–न–एक अड़गे लगते ही रहते हैं। किन्तु यदि व्यवहार में, दुष्टों के हटाने में, विरोध में, युक्ति से काम निकालने में, अधिकारी के क्रोधावेश में अथवा चोरी आदि निन्द्य कर्मों में पूर्ण स्वर का प्रवाह हो तो वह सत्य ही भयंकर परिणाम देने वाला होता है। स्वर प्रवाह के अनुसार कार्य सिद्धि की तालिका दी जा रही है, जिससे स्वर प्रवाह के आधार पर कार्य सम्पादन में सहायता मिलेगी।

1. **चन्द्र स्वर (इड़ा नाडी)** – व्रत, पूजा, उपासना, विदेश यात्रा, आश्रम धर्म का पालन (आश्रम धर्म चार है – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास), लेनदेन, जलाशय (कुआँ–बावड़ी आदि) का निर्माण, देव या यज्ञ प्रतिष्ठा अर्थात् दान, धर्म, विवाह–वरबंध आदि शुभकर्म, शान्तिकर्म, पुष्टिकर्म, औषधि निर्माण, वाणिज्य, अपने से श्रेष्ठ पुरुषों से मिलाप, गृह प्रवेश, भृतिका, कृषिकर्म, विद्यारम्भ, जन्म, मृत्यु, पशुक्रय, रोग निवारण या रोगमुक्त होने के लिए औषध को ग्रहण करना, पशुओं की सवारी में, सवारी के पशुओं को घर लाने में, परोपकार में, धन संग्रह करने में, गान विद्या सीखने में, शास्त्रों के अध्ययन में, भूमि क्रय करने में, वस्तुओं के संग्रह करने में, विष दूर करने में तथा अन्य अनेक शुभकर्मों में चन्द्र स्वर सदा लाभदायक होता है।

2. **सूर्य स्वर (पिंगला नाडी)** – कठिन कार्य साधन में, स्त्री प्रसंग में, जलयात्रा, मारण–मोहन–उच्चाटन मन्त्रों की उपासना, शत्रु का नाश, शस्त्र प्रयोग, युद्धयात्रा, शिकार खेलना,

पशु विक्रय, ईंट पत्थर तथा रत्नों का क्रय करना, यन्त्र–तन्त्र का प्रयोग, पर्वत पर चढ़ना, जुआ खेलना, सवारियों पर चढ़ना, कसरत करना, उच्चाटन कर्मों की साधना, यक्षिणी–भूत–प्रेत–बेताल आदि का निवारण, तैराकी, बैरी से युद्ध करना, राजदर्शन, भोजन, स्नान आदि अनेक क्रूर कर्मों की साधना में सूर्य स्वर सिद्धिदायक होता है।

3. **शिव स्वर (सुषुम्ना नाड़ी)** – क्षण में बायीं ओर और क्षण में ही दायीं नाड़ी (स्वर) बहने लगे तो उसे शिव स्वर सर सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। यह स्वर सभी कार्यों का नाश करता है। यह स्वर सभी कर्मों में वर्जित है। स्वर का क्रम भंग अर्थात् चन्द्र स्वर का प्रवाह सभी कार्यों में विघ्न पैदा करता है। इस प्रकार के स्वर प्रवाह में अच्छे या बुरे सभी काम वर्जित हैं, केवल भगवन्नाम का स्मरण ही श्रेयस्कर है। विषम स्वर के प्रवाह काल में किसी कार्य के प्रति विचार भी नहीं करना चाहिये, नहीं तो, अनुकूल स्वर में कार्य प्रारम्भ करने पर भी कार्यसिद्धि नहीं होती। शिव स्वर केवल भक्ति–मुक्ति का फल देने वाला है, यह उदया सत्य है। नाक से समान प्रवाहवाला स्वर (दोनों छिद्रों से समान स्वर का प्रवाह), अथवा जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है विकृत प्रवाह शिव स्वर ही कहा जाता है। साधक या शिक्षार्थी को सबसे पहले स्वर परिचय प्राप्त करना चाहिये। स्वर परिचय प्राप्त करना साधारण अभ्यास से सम्भव नहीं। किस तिथि से किस तिथि तक कौन सा स्वर किस–किस काल में बहना चाहिये, इसके अभ्यास के लिए लम्बे समय की आवश्यकता होती है। बहुत से सज्जन कुछ घंटों में ही स्वर ज्ञान सीख लेना चाहते हैं जब कि इसके अभ्यास में योगियों का जीवन तक समाप्त हो जाता था और स्वर ज्ञान परिपक्व नहीं होता था। जबतक स्वर का प्रारम्भिक ज्ञान नहीं प्राप्त हो जाता तब तक किताबों या निबन्धों में पढ़कर सफलता की आशा करना व्यर्थ है। स्वर ज्ञान की शिक्षा इतनी सरल होती तो अन्य विषयों की तरह स्वर ज्ञान की भी अनन्त पुस्तकें बाजारों में बिकती पायी जातीं, किन्तु स्वर ज्ञान पर शायद ही किसी व्यवसायी लेखक ने कलम चलायी हो!

□□□

प्रभु कृपा से ही उद्धार सम्भव

आपकी कृपा का लाभ जो यदि उठा लेता तो कनक बन जाता कदर्य भव पूरे का।
साधना की आँच में तपाके, नाम चोट दे–दे, बना देता तार कोई भक्त के तंबूरे का।।
आपके सुनाम की ध्वनि भावुक निकालते, और मैं भी सुन पाता गीत भक्तों के जूरे का।
आश्रयभूत प्रेमी के कर की मृदु चोटों से होता उद्धार इस अघ पहाड़ पूरे का।।
गर्भ के त्रास का आभास रंच रखता यदि, जाता क्यों विनाश और दास ये हुलास से।
अश्वर को अविनश्वर मानता ब्रजेश्वर क्यों? ग्रीवा क्यों फँसा देता विलासों के पाश से।।
माया की मरीचिका को मुदित मनाता क्यों, होता क्यों हर्षित प्रभो! क्षणिक सुखाभास से।
जकड़ चुका हूँ जग, पकड़ चुका हूँ मग, छूटना है सम्भव केवल आपके प्रयास से।।

– एक साधक

ब्रह्मलीन योगीराज श्री देवराहा बाबा जी महाराज की अमृत वाणी

संस्कृति की दृष्टि से गौ का महत्व

भारतीय संस्कृति की दृष्टि से गौ का महत्व तो गायत्री और गंगा से भी बढ़कर है। गायत्री की साधना में कठिन तपस्या अपेक्षित है। गंगा सेवन के लिए भी कुछ त्याग करना ही पड़ता है, परन्तु गौ का लाभ तो घर बैठे ही मिल जाता है। दुःख की बात यह है कि आज गौ को साधारण पशु समझकर उपेक्षा की जा रही है और लोग उसका महत्व नहीं समझ पा रहे हैं। यदि वाक् गायत्री है, प्राण गंगा है तो मन गौ है। मन की शुद्धि के बिना न तो कोई साधना हो सकती है और न भौतिक उपलब्धि का सुख ही प्राप्त हो सकता है। मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाओं का मूल मन है और गौ मन की शुद्धि का मूल हेतु है। मानव-जीवन से पशु-जगत का यों भी घनिष्ठ सम्बन्ध है, फिर दिव्य पशु तो मानव-जीवन की आधारशिला है। वेद में सामान्य और दिव्य पशुओं का पर्याप्त विवेचन हुआ है। गौ और गौ की संतान दोनों ही दिव्य पशु हैं।

ऋग्वेद में गौ को वृषभ कहा गया है। वृषभ गौ का ही पुल्लिंग रूप है। वेद में सबसे अधिक वर्णन गौ का हुआ है। जिस प्रकार गायत्री और गंगा प्रतीक और स्थूल दोनों ही रूपों में विश्व-विज्ञान और मानव-जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं, उसी प्रकार गौ का भी महत्व है। ऊषा की रश्मियों को गौ के ही रूप में चित्रित किया गया है। मेघ का भी गौ के रूप में मूर्तिकरण हुआ है। मेघ-रूप गौ से ही विद्युत-रूप बछड़े का जन्म होता है। बड़े-बड़े सुन्दर रूपकों और उपमानों से वेद में गौ की महिमा गायी गयी है। अथर्ववेद में लिखा है – **विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मेऽस्तु** (4/34/8)। भारतीय संस्कृति कर्म प्रधान है। यज्ञ भी कर्म का ही एक रूप है। जिस प्रकार यज्ञ चक्र गौ के बिना सम्भव नहीं, उसी प्रकार कर्मचक्र को भी सुन्दर, सुखद और अनुकूल बनाने के लिए गौ की आवश्यकता है। गौ के पाँचों गव्यों का उपयोग जिस प्रकार यज्ञ में होता है, उसी प्रकार मानव जीवन में भी पंचगव्य का बहुत उपयोग है। वेद में गौ की इतनी महिमा है कि देवताओं की माता अदिति को 'धेनु' कहा गया है और देवताओं को गोजात बताया गया है। यत्र-तत्र गौ के दूध और घी की आहुति को 'इडा' कहा गया है। वाजसनेयी संहिता में गौ को चित्त, मन, धी तथा दक्षिणा आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है और उसे हर प्रकार से पूज्य माना गया है–

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतःशीर्ष्णी। सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय।। अनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमं रुद्रस्त्वा वर्त्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि।। (यजुर्वेद 4/19–20)

अर्थात् हे सोमक्रयणी गौ! तुम चिदात्मा हो, बुद्धिस्वरूपा हो, मन स्वरूपा हो, दक्षिणारूप हो, दाता की कष्ट से रक्षा करने वाली हो, यज्ञ सम्बन्धिनी होने से यज्ञ के योग्य हो, देवमाता अदिति स्वरूपा हो, पृथ्वी और स्वर्ग दोनों ओर सिर रखने वाली, अर्थात् दिव्य और भौम भोगों को देने वाली हो। तुम हमारे लिए पूर्वमुखी, पश्चिम मुखी होओ। सूर्य दक्षिण पाद से तुमको बाँधे। पूषा देवता यज्ञ के

स्वामी इन्द्र देवता की प्रसन्नता के लिए मार्ग में तुम्हारी रक्षा करें। हे वाणीरूपी गौ! सोम लाने में प्रवृत्त तुमको तुम्हारी पृथ्वी माता आज्ञा दे, स्वर्ग पिता आज्ञा दे, सहोदर भाई ईश आज्ञा दे, एक यूथ (समूह) में प्रकट होने वाला आत्म प्रतिबिम्ब सखा आज्ञा दे। हे दिव्यगुणयुक्त सोमक्रयणि ! तुम इन्द्र के लिए सोमलता लाने को जाओ। रुद्र देवता तुमको पुन: हमारी तरफ लौटाये, सोम को लेकर तुम क्षेमपूर्वक फिर हमारे पास आ जाओ। (इन मंत्रों द्वारा वाणी रूपी गौ की स्तुति की गयी है।)

अथर्व वेद में तो '**रूपायाघ्न्ये ते नम:**' कहकर गौ की देववत् पूजा का विधान है। ऋग्वेद में उस स्थल को भी परम पवित्र माना गया है, जहाँ गाय निवास करती है। सभी प्रमुख स्मृतियों और पुराणों में गौ की महिमा का गान है। यह सब प्रशस्ति किसी कारण विशेष से की गयी है और इसमें कारण विशेष यही था कि मानव जीवन में गौ से बढ़कर कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। गौ की महिमा का सबसे अधिक वर्णन महाभारत के अनुशासन पर्व में हुआ है। श्रुति को उद्धृत करते हुए भीष्म कहते हैं-

गौर्मे माता वृषभ: पिता मे दिवं शर्म जगती मे प्रतिष्ठा।
ऊर्जस्विन्य ऊर्जमेधाश्च यज्ञे गर्भोऽमृतस्य प्रतिष्ठा।
क्षिते रोह: प्रवह: शश्वदेव प्राजापत्या: सर्वमित्यर्थवाद:।।

(महाभारत, अनु 6/10)

गायत्री और गंगा की भाँति गौ का सम्बन्ध सूर्य और चन्द्रमा से है - इसलिए सौर्य और सौम्य विशेषण गौ के लिए प्रयुक्त हुए है तथा उशीनर से लेकर चक्रवर्ती दिलीप तक के गौ-प्रेम का वर्णन पुराणों और महाभारत में हुआ है। वेद में सूर्य की एक प्रमुख किरण का नाम कपिला है। इसलिये महाभारत में कपिला गौ की बहुत प्रशंसा की गयी है। यज्ञ में जिस सोम की चर्चा है वह कपिला से ही प्राप्त होता है- '**यज्ञेराप्यायते सोम: स च गोषु प्रतिष्ठित:।**' कपिला गौ की उत्पत्ति स्वरूप का विवेचन महाभारत में हुआ है। महाभारतकार कहते हैं-

गाव: प्रतिष्ठा भूतानां गाव: स्वस्त्ययनं महत्।।
गावो भूतं च भव्यं च गाव: पुष्टि: सनातनी।
गावो लक्ष्म्यास्तथा मूलं गोषु दत्तं न नश्यति।।
अन्नं हि परमं गावो देवानां परमं हवि:।
स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ।।
गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञा: प्रतिष्ठिता:।

(महाभारत, अनु 78/5-8)

दूध, घी और दही के अतिरिक्त गौ का मूत्र और गोबर भी इतने उपयोगी माने गये हैं कि महाभारत में स्पष्ट कहा गया है कि '**गवां मूत्रपुरीषस्य नोद्विजेत कदाचन।**' फिर आगे लिखा है-'**गोमयेन सदा स्नायात् गोकरीषे च संविशेत।**' धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष -इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि गौ से सम्भव है-

गावो महार्था: पुण्याश्च तारयन्ति च मानवान्।
धारयन्ति प्रजाश्चेमा हविषा पयसा तथा।।

गाश्च शुश्रूषते यश्च समन्वेति च सर्वशः।
तस्मै तुष्टाः प्रयच्छन्ति वरानपि सुदुर्लभान्।।
द्रुह्येन्न मनसा वापि गोषु नित्यं सुखप्रदः।
अर्चयेत सदा चैव नमस्कारैश्च पूजयेत्।।
(महाभारत, अनु 81/2,33-34)

गौ का गोबर श्री युक्त होता है, इसकी बड़ी सुन्दर आख्या अनुशासन पर्व के 81 वें अध्याय में आती है। गौ की कृषि के लिये उपयोगिता का उल्लेख भी महाभारत में है-

धारयन्ति प्रजाश्चैव पयसा हविषा तथा।
एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते।।
जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विविधानि च।
ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते हव्यं कव्यं च सर्वशः।।
(अनुशा0 83/17-18)

गौ के सम्बन्ध में एक विशेष बात लक्ष्य करने की यह भी है कि पृथिवी के अर्थ में भी 'गौ' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। इसी प्रकार 'गौ' शब्द का अर्थ इन्द्रिय भी है। इसलिये गौ-तत्त्व का विचार पृथिवी और इन्द्रियों के सम्बन्ध से किया जाता है। किसी इन्द्रियवान् प्राणी का जीवन-तत्त्व पित्त है- यह तथ्य प्रायः सभी औषधि- विज्ञानों में मान्य है। इसी प्रकार पृथिवी का मूलाधार तत्त्व सुवर्ण है, जिसे वेद में पृथिवी का पित्त बताया गया है। सुवर्ण वास्तव में पृथिवी का अग्नितत्त्व है और पित्त प्राणिशरीर का अग्नि तत्त्व है- **'अग्निर्हि देवताः सर्वाः सुवर्णश्च तदात्मकम्।'** स्वर्ण के कारण ही पृथ्वी वसुमती कहलाती है। पौराणिक आख्यान के रुप में स्वर्ण को गंगा के माध्यम से अग्नि पुत्र बताया गया है। गौ के संदर्भ मे इस रहस्य को भलीभाँति समझा जा सकता है। विज्ञान के प्रयोगो से यह सिद्ध किया गया है कि पंचगव्य में जितनी पित्त की मात्रा है-उतनी किसी दूसरे पदार्थ मे उपलब्ध नही है। पृथिवी के कण-कण में व्याप्त स्वर्ण सर्वसुलभ नही है। इसी प्रकार गांगेय स्वर्ण प्राप्त करने के लिए भी श्रम और साधना आवश्यक है। परन्तु साक्षात् शरीरी वसुमति गौ माता से पित्त रूपी स्वर्ण सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। मानव जीवन के लिए गौ की उपयोगिता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

अतः मानव मात्र को गौ की महिमा - महत्ता पर ध्यान रखते हुए प्राणपण से सेवा करनी चाहिये। गौ सर्वपूज्या है तथा सर्वसेव्या है।

□□□

'जैसे नदियाँ समुद्र के पास जाती हैं, इसी तरह सोने से मढ़े हुए सींगों वाली दुग्धवती, सुरभि और सौरभेदी गौएँ मेरे निकट आवें। मैं सदा गौओं का दर्शन करूँ और गौएँ मुझ पर कृपा वृष्टि करें। गौवें मेरी हो और गौओं का मैं हूँ। जहाँ गौएँ रहे, वही पर मैं भी रहूँ।' (महा. अनु. 78/23-24)

माया से कैसे पार हों ?

राजा निमि ने पूछा – हे सिद्धो ! विषय वासना से बद्ध जीव इस माया से कैसे पार होते हैं? योगेश्वर का उत्तर था – "दुस्तर माया नदी को तैरने के लिए भक्ति की नौका के सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है। कर्मजालों में फँसे मोहान्धों का निस्तार नहीं है। सिवा भक्ति के अनेक प्रकार के उपायों से उपार्जित धन भी सुखदायी नहीं होता। इसी तरह अन्य वस्तुयें भी शाश्वत सुख नहीं देती, क्योंकि समस्त सांसारिक सुख क्षणभंगुर है। इसी तरह स्वर्ग में न्यूनाधिक तारतम्य से ईर्ष्या–द्वेष आदि दोषों से दु:ख अधिक है, सुख अल्प है, कर्मफल की समाप्ति हो जाने पर नीचे गिरना पड़ता है। इसलिए कल्याण की आकांक्षा करने वाले को चाहिये कि कर्म और ब्रह्म, दोनों के तत्व को जानने वाले सकल निगम–आगम में निष्णात, योग के अनुष्ठान से अन्तःकरण की वासना को भस्म करने वाले, पवित्र हृदय से हाथ में रखे आँवले के समान समस्त भुवन को देखने वाले, शिष्य के चित्त का संताप हरने वाले शिवयोगी गुरु के चरण में शरणागत हो। विधिपूर्वक गुरुकुल में निवास करता हुआ, मनसा, वाचा, कर्मणा सर्वदा और सर्वथा भगवद्–बुद्धि से गुरु की सेवा करता हुआ, कटुता को त्यागकर निष्कपट भाव से हृदय के समस्त संशयों को गुरुचरणों में निवेदन कर गुरूपदिष्ट मार्ग से प्रथम क्षेत्र–मित्र, पुत्र, कलत्र, धन धान्य, देह आदि में वैराग्यपूर्ण साधु संगति की रीति का ज्ञान प्राप्त करे।

इसके अनन्तर सुखी में मित्रता, दुखी में करुणा, पुण्यात्मा में मुदिता और पापी में उपेक्षा की भावना करता हुआ चित्त को प्रसन्न रखे। जल, मिट्टी आदि से बाह्य शुद्धि एवं यम–नियम आदि से अन्तःकरण की शुद्धि करता हुआ, सर्वत्र भागवत्स्वरूप का दर्शन करता हुआ निर्लोभ, निर्मोह, निष्परिग्रह, निरहंकार, निरान्तक, निरामय, निःस्पृह, वीतराग अवधूत होकर यदृच्छा लाभ से सन्तुष्ट चित्त, जटाधारी, वल्कल वस्त्रधारी, कन्दमूल फलाहारी और जनसंसर्ग से दूर रहकर समय सार्थक करे। शास्त्रों में श्रद्धा, गुरुमय भगवद् बुद्धि, पुस्तकों का परिहार्य, परापवाद का परित्याग, वेद विरुद्ध मत का तिरस्कार, श्रुतिसंवाद में स्मृतियों की परीक्षा, नित्य धर्मचिन्तन, स्वल्पभाषण, वृथालाभ से विरक्ति, प्राणायाम–परायणता, इन्द्रियों का निग्रह, मन को वश में करना और भगवान के जन्म (अवतार), कर्म और गुण का नित्य श्रवण तथा श्रेष्ठ कर्मों का ही आचरण आदि अनवद्य कर्म गुरु से सीखना चाहिये और विपरीत को त्याग देना चाहिये। यज्ञ, दान, व्रत, उपवास, जप, तप, सदाचार तथा मन को अच्छे लगने वाले अन्य वैदिक कर्म ईश्वर प्राणिधान विधि से भगवान के चरणों में अर्पण करना चाहिये। स्त्री, पुत्र, धन, बन्धु–गृहादि समस्त को भगवद् प्रदत्त प्रसाद जानकर यथासमय उपयोग करना चाहिये। स्थावर, फिर जंगम, फिर मनुष्य, फिर धर्मपरायण भगवद् भक्त, फिर योगीश्वरों की ईश्वर बुद्धि से सेवा करनी चाहिये। जब भगवान में पराभक्ति से तन्मयता हो जाती है, तब भक्त भगवान के दर्शन के बिना अपने को अभागा कहकर व मानकर धिक्कारता है, रोता है। कभी यह सोचकर हँसता है कि भक्तवत्सल भगवान भक्ति से वश में होते हैं। कभी वह आर्त्त की तरह उच्च स्वर से चीत्कार करता है, कभी परमानन्द से मुदित होकर नाचता है। कभी भगवान के ध्यान में निमग्न होकर स्थाणु के समान वह निश्चल हो जाता है। इस तरह भगवद् भक्त माया को तर जाता है।

□□□

वेद मानव की प्रार्थना

अवा नो अग्ने ऊतिभिर्गायत्रस्य
प्रभर्मणि विश्वासु धीषु वन्द्य।
आ नो अग्ने रयिं भर सत्रासाहं वरेण्यम्
विश्वासु पृत्सु दुष्टरम्।
आ नो अग्ने सुचेतुना रयिं
विश्वायुपोषसम्।
मार्डीकं धेहि जीवसे।।

हे वन्दनीय परमेश्वर ! आप, प्राणों के प्राण, शरीर के रक्षण, पालन, भरण–पोषण के अनेक साधनों से हमारी रक्षा कीजिये।

हे परमेश्वर ! हमें समस्त विपत्तियों को नष्ट करने वाले सर्वश्रेष्ठ बल – शक्ति की प्राप्ति कराइये, जिसका मनुष्यों और संग्राम में शत्रुओं के लिए पार पाना दुर्गम हो, हमें अपार बल प्रदान कीजिये और अक्षय धन से सम्पन्न कीजिये।

हे परमेश्वर ! आप हमें अपने जीवन निर्वाह तथा सभी मनुष्यों के पालन–पोषण के लिए यथेष्ट सुख, आरोग्य प्रदान करने वाला उत्तम ज्ञान तथा प्रचुर मात्रा में अन्न से युक्त कीजिये।

(सामवेद उत्तरार्चिक 14/4/14)

मीडिया पोस्ट

हृदय स्पर्शी सेवा

उत्पाद (ब्राण्ड) को बाजार में स्थापित करने के लिए एक अनोखी एवं प्रभावशाली योजना –

निम्न माध्यमों से विज्ञापन की सुविधा

1. डाक वस्तुओं पर मेघा आसन (स्थान चमक) का विज्ञापन
2. लैटर बॉक्सों पर स्थान का प्रायोजन (स्पोन्सरशिप)
3. मेल वाहनों पर स्थान का प्रायोजन (स्पोन्सरशिप) दर : रु. 1000 प्रति पैनल प्रतिमाह पेन्टिंग चार्ज रु. 500.00 प्रति पैनल
4. डाकघर परिसर में होर्डिंग लगाकर विज्ञापन दर रु. 3.50 प्रति वर्ग फीट प्रति माह
5. डाकघर के अन्दर या बाहर ग्लोसाइन बोर्ड अथवा पोस्टर लगाकर विज्ञापन दर रु. 100/- प्रति वर्ग फुट प्रति माह
6. डाकघर के पतों पर स्टाम्प कैंसिलेशन की डाई लगाकर विज्ञापन दर रु0 100/- प्रति डाई ओरोदित डाई का मूल्य रु0 400/-
7. मेघदूत पोस्ट कार्ड के माध्यम से विज्ञापन अर्थात् पोस्ट कार्ड के आधे भाग पर उत्पादों का विज्ञापन : दर रु. 2/- प्रति पोस्ट कार्ड। मेघदूत पोस्ट कार्ड का विक्रय मूल्य केवल 25 पैसे मात्र।

SIDDHYOG Postal Regd No.: Ag. 19/06-08

January 2007

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक

उत्कृष्ट कोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER

BOOK-POST

श्री/सुश्री

संस्थापक–योग योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डा. रामलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन. आई. रजि. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र.(डॉ.) रामलाल शर्मा